धूपदीप

'माधव'

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रथम संस्करण ३२५०
मूल्य ।≈) सात आना
वैशाख १९९३ वि०

'मेरे जनम-मरणके साथी'

प्रीति-उपहार

....

....

....

उ त्स र्ग

हरि

के

च र णों

में

'माधव'

श्रीहरिः शरणम्

हठीला प्यार

इतना ही बहुत था तुमने मुझे अपने चरणोंमें आश्रय दिया, मुझ अधमको अपनाया। मुझ अपात्रपर तुम सतत प्रीति बरसा रहे हो। तुम्हारे अपार वात्सल्य-प्यारमें मैं नहा रहा हूँ। इस अयाचित, अप्रत्याशित दुलारमें मैं विमूढ़-सा हो रहा हूँ—कहीं इसका ओर-छोर नहीं मिलता।

मेरे प्रत्येक हठको, मेरी प्रत्येक लालसाको, उचित-अनुचितका विचार न कर, इस प्रकार पूरा करते जाओगे—यह मुझ नादान बालककी अल्हड़ बुद्धिमें कैसे आता ? जहाँ-तक तुम्हारे-मेरे बीचकी बात थी मेरे हठ और तुम्हारे प्यार-की होड़ ठीक थी; परन्तु प्रेमी और भक्त, साधक और लेखक, कवि और कलाकारका बाना लेकर जब संसारके बाज़ारमें उतरनेके लिये मैं मचला और उसके लिये मैंने तुमसे हठ किया—(तुम्हारे सिवा करता ही किससे ?) तो उसमें भी 'हाँ' भरकर तुमने अपने दुलारको बदनाम क्यों होने दिया ? दुनियाके आलोचक क्या कहेंगे—इसपर कुछ सोचा भी ?

क्या ही अच्छा था तुम्हारे प्यार और मेरे हठको केवल हम दो ही जानते ! हठीले प्यारका यह कोमल पौधा संसारकी

तीक्ष्ण दृष्टिको कैसे सहेगा ? मेरी ललक देखकर तुमने मुझे बाज़ारमें भेज ही दिया ! यह तुम्हारी कैसी लीला है ! परन्तु अब झिझकसे ही क्या होगा ? तुम्हारी प्रीतिका सम्बल तो मुझे हर समय, प्रत्येक दशामें प्राप्त है ही। मेरे सम्पूर्ण कर्ममें, मेरी प्रत्येक साँसमें तुम्हारी 'हाँ' है। जिसमें तुम्हारी 'नाँ' है वह मुझसे होगा ही क्यों ?

अब सरे बाज़ार तालियाँ भी मिलेंगी और गालियाँ भी। आशीर्वाद दो कि ये दोनों ही मुझे छू न सकें; और बाज़ारको चीरता हुआ तुम्हारे एकान्त प्रणयपथमें अविराम चलता रहूँ, गालियाँ उद्विग्न न कर सकें, तालियाँ लुभा न सकें। एक क्षण-के लिये भी यह न भूलूँ कि मैं अपनी दयामयी जननीकी गोद-में हूँ, वह मुझे सदा अपनी छातीमें छिपाये और आँचलसे ढाँके हुए है; संसारकी दृष्टि मुझपर पड़ नहीं सकती।

तुम्हारी ही प्रेरणाकी अमरबेलिके ये पत्र-पुष्प हैं। तुम्हारे प्यारने जैसा चाहा वैसा ही मुझसे हुआ। माँने चुटकियाँ बजायीं, मैं नाचा। इसमें दर्शकोंका मनोरञ्जन हो तो बहुत सुन्दर, और न हो तो मेरा क्या वश ? मेरी दृष्टि तो एकमात्र तुम्हारी ओर है। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो ! बस

'कल्याण-कुञ्ज'
मंगलवार, मकर-संक्रान्ति, ९२

तुम्हारा ही—
'माधव'

श्रीहरिः

निवेदन

साहित्यके लिये मनुष्य नहीं है मनुष्यके लिये साहित्य है। जो साहित्य सदाचार और सद्भावोंका विनाश करता हो, जो हमारे मनमें नाना प्रकारके दूषित विकार उत्पन्न करता हो और जो हमें पवित्र आध्यात्मिक और नैतिक पथसे गिराता हो, वह कलाकी दृष्टिसे कितना ही कमनीय और सराहनीय क्यों न हो, मानवसमाजके लिये सर्वथा वर्जित होना चाहिये। जिस साहित्य या कलासे मानवसमाजका सदाचारयुक्त विकास होता है वही सच्ची कला है। नहीं तो वह कलाके नामपर कालकी क्रीड़ा है। जहाँ पवित्रता और कला दोनों है वहाँ तो सोनेमें सुगन्ध है। ऐसा ही साहित्य जनसमुदायके लिये विशेष उपकारी होता है। सन्तोषका विषय है कि भगवान्‌की पूजाके उपचाररूप इस 'धूपदीप' को सजानेमें लेखकने दोनों ही बातोंको लानेकी चेष्टा की है। लेखकके साथ मेरा आत्मीयताका सम्बन्ध होनेके कारण उनकी बड़ाई करना आत्मप्रशंसा करना होता है और आत्मप्रशंसा पतनका मूल है। इसके अतिरिक्त मैं अपनेको साहित्यकी पवित्रता और

कलाके परखनेके लिये योग्य और अधिकारी भी नहीं समझता इसीलिये 'चेष्टा की है' इतना ही कहता हूँ। चेष्टामें कहाँतक सफलता हुई है इसका निर्णय तो परीक्षकके उत्तरदायित्वपूर्ण पदको सुशोभित करनेवाले सच्चे पारखी और सहृदय पाठक-गण ही करेंगे। इतना मैं कह सकता हूँ कि मुझे समय-समयपर इसके पढ़नेसे बड़ा आनन्द मिला है और मिलता है।

एक आवश्यक बात और है। वह यह है कि पवित्र साहित्यके पीछे साहित्यकारका तदनुरूप ही पवित्र जीवन भी अवश्य होना चाहिये। तभी वह साहित्य मानवसमाजके लिये पूर्ण-तया आदर्श और यथार्थ हितकारी होता है। उन्हीं सत्य और कल्याणमय शब्दोंका यथार्थ मूल्य होता है जो अनुभवी पुरुषकी पवित्र वाणीसे निकलते हैं, चाहे उनमें कलाकी दृष्टिसे सौन्दर्य न हो। कला साथ हो तब तो वे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का ही स्वरूप बन जाते हैं। कोरी कलाका बाह्य रूप तो इन्द्रियोंका आकर्षक और मोहक होता है। उससे पतन ही होता है, उत्थान नहीं। ऐसे पवित्रजीवन महापुरुषोंमें उदाहरणार्थ गुरु नानकको लीजिये। उनकी वाणीमें कवि-स्वभावसुलभ कमनीय कला नहीं है परन्तु उसमें पवित्रता और सचाईका सौन्दर्य भरा है। स्वामी रामकृष्ण परमहंसका भी यही हाल है। गोस्वामी तुलसीदासजीमें दोनों बातें हैं। ऐसे ही और भी अनेक उदाहरण हैं। इन महापुरुषोंका जीवन बोलता था, सिर्फ वाणी नहीं। इनकी कलम स्याहीमें डूबकर ही कागजोंपर नहीं चलती थी, हृदयमें और इनके जीवनकी क्रियाओंमें डूबकर चलती थी। इसीसे लेखकके शब्दोंद्वारा ही उसके जीवनकी पहचान हो जाती थी। लेख उसका हृदय

समझा जाता था। भगवान्‌के कथनानुसार गीता उनका हृदय है, ('गीता मे हृदयम्') कोरी कला नहीं। जबतक हृदय कला नहीं बनता, तबतक थोथी कला विनाशके पथपर ही ले जानेवाली होती है। खेद है कि आजकल कलाकी जितनी कीमत और परख है, उतनी मनुष्यकी नहीं। कलाकारका अपना जीवन कैसा ही क्यों न हो, यदि उसकी कला हृदयग्राहिणी है तो बस पर्याप्त है। परन्तु याद रखना चाहिये कि जिसकी कलासे हृदय खिंचा जाता है, उस कलाकारके दर्शनके लिये मनुष्यकी स्वाभाविक ही उत्सुकतापूर्ण प्रवृत्ति होती है। और खोज करनेपर यदि कलाकारका जीवन उसकी कलाके विपरीत देखा जाता है; स्वधर्म या स्वदेशपर प्राण न्योछावर कर देनेकी शिक्षा देनेवाला लेखक यदि स्वयं धर्महीन या देशद्रोही मिलता है अथवा सतीधर्मका महत्त्व बतलानेवाली लेखिका परपुरुषमें प्रेम करनेवाली पायी जाती है तब वहाँ मनुष्यको बड़ी ही निराशा होती है। परिणाममें या तो वह स्वयं 'कहना कुछ और तथा करना कुछ और' के दम्भपूर्ण आदर्शको मान लेता है, या साहित्यमात्रसे मुँह मोड़कर सच्चे साहित्यकारकी कृतिसे लाभ उठानेमें भी वञ्चित रह जाता है। दोनों ही तरहसे उसकी हानि होती है। ऐसी स्थितिमें दायित्वज्ञानसम्पन्न लेखकको अपने अधिकारके अनुसार ही सोच-समझकर कलम उठानी चाहिये। आनन्दकी बात है कि धूपदीपके लेखक अपने इस दायित्वको समझते हैं और अपने शब्दोंके अनुरूप ही अपना जीवननिर्माण करनेकी साधनामें लगे हैं। वे अबतक कितना आगे बढ़े हैं और कबतक लक्ष्यतक पहुँच जायँगे, यह बतलाना मेरे अधिकारके बाहरकी बात है।

यह सब तो भगवत्कृपापर निर्भर है और भगवत्कृपा सबपर है ही। यदि मनुष्य भगवत्कृपापर सरल विश्वास करके उसीका आश्रय ग्रहणकर अपनी जीवनधाराको भगवान्‌की ओर बहा देना चाहे तो भगवत्कृपाशक्तिसे उसके लिये बहुत दूर भी अति समीप और असम्भव भी सम्भव हो जाता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार लेखक साधनामें लगे रहें तो उनके जीवनका कल्याणमय होना भी अनिवार्य है। जो कुछ भी हो, वे साधनपथपर आरूढ़ हैं और मैं चाहता हूँ कि उनके शब्दोंमें जैसा सौन्दर्य, माधुर्य और पवित्र मस्ताना भाव है, वैसा ही, नहीं, उससे भी बढ़कर उनके जीवनमें और उनकी क्रियाओंमें हो जाय। उनके साथ मेरा प्रेमका सम्बन्ध है, इसलिये यदि मैं ऐसा होनेके लिये महात्मा पुरुषोंसे और पाठकोंसे उनके लिये आशीर्वाद माँगूँ तो अयुक्त न होगा। आशा है पाठक इस पुस्तकको पढ़कर लाभ उठावेंगे और अपनी सद्भावनासे लेखकको लाभ पहुँचावेंगे।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१-हृदयकी प्यास	१
२-संतोंकी प्रेमानुभूति	९
३-प्रार्थनाका प्रवाह	२०
४-प्राणोंकी साध	३०
५-समर्पणकी ज्वाला	३७
६-कौन जतन बिनती करिये !	४३
७-अब न द्रवहु केहि लेखे !	५०
८-बंदौं सबहिं रामके नाते	५५
९-आशिक होकर सोना क्या रे !	६०
१०-मेरे जनम-मरणके साथी !	६८
११-प्रेमयोगिनी मीरा	७५
१२-कबीरका हृदय	९६
१३-जायसीकी प्रेमानुभूति	११०
१४-महात्मा चरनदासजी	१२०
१५-महात्मा धरमदासजी	१३१
१६-स्वामी रामतीर्थकी आध्यात्मिक मस्ती	१४८
१७-माँ ! ओ माँ !!	१५९
१८-मृत्यु क्या है ?	१६७
१९-जड-उपासना	१८१
२०-एकान्त शान्ति	१९२
२१-जीवनरास	२०३

卐 धूपदीप 卐

"प्यारका बन्दी"

हृदयकी प्यास

सौ सौ जन्मोंसे तुम्हें देखता आ रहा हूँ परन्तु भर आँख देख न पाया। हृदयके मन्दिरमें तुम्हारी मनोहर मङ्गल-मूर्ति विराज रही है परन्तु मैं अभागा अपने ही हृदयका द्वार खोलकर मिलन-मन्दिरमें प्रवेश न कर सका। तुम रू-बरू सामने खड़े हो पर मेरी आँखें नहीं उठतीं। कैसे कहूँ; बड़ी विचित्र दशा है, देखे बिना रहा भी नहीं जाता और देखते बनता भी नहीं।

मेरी यह प्यास मेरे जन्म-जन्मान्तरकी चिरसंगिनी है। जीवन और मृत्युको चीरती हुई मेरी यह प्यारी मीठी प्यास अनादि कालसे मेरे साथ चली आ रही है। इस प्यासके ही कारण मेरा यह जीवन और यह जगत् है। जिस प्रकार दूधमें घी और मधुमें मिठास है उसी प्रकार यह प्यास मेरे रोम-रोममें, अणु-अणुमें, प्राण-प्राणमें व्याप्त है। मेरा रोम-रोम तुम्हारी माधुरीमें आकण्ठ डूबनेके लिये व्याकुल है। साँसोंमें भी इसी प्यासकी विह्वलता धड़क रही है। कहाँ जाऊँ, कैसे करूँ?

कैसी विचित्र पहेली है कि सब कुछ जानूँ पर अपने हृदय-वल्लभको न जानूँ, सब कुछ देखूँ पर अपने प्राणनाथको न देख सकूँ। कितना ढाढ़स बाँधकर आता हूँ—परन्तु तुम्हारे ऊपर दृष्टि पड़ी नहीं कि निगोड़ी आँखें झुक जाती हैं और घूँघट सरक आता है—मनकी मनमें ही रह जाती है। कई बार आँखोंको सिखलाता हूँ, चिताता हूँ............परन्तु ये बेचारी स्वयं विवश हैं—इनका क्या दोष? और अपने अपराधकी सजा भी तो इन्हींको अकेले भोगनी पड़ती है। सामने आ जानेपर तो ये हार खा जाती हैं और चूक जाती हैं—परन्तु बादमें जो बेचैनी, जो छटपटी होती है उसे देखकर तो इनपर दया ही आयेगी।

इस हृदयका मर्म तुम भी खूब जानते हो। प्राणोंकी बेचैनी उसकानेमें तुम्हें भी एक आनन्द आता है। सामने रहते हुए भी पर्दानशीं हो और पर्देके भीतर होते हुए भी सामने हो। देखते हुए भी तुम्हें नहीं देख पाता और नहीं देख पानेपर भी देख रहा हूँ। तुम न हाँ हो न ना हो। हाँ भी हो और ना भी हो।

अपने आलिङ्गनके मधुपाशमें बाँधकर भी मैं तुम्हें छू तक नहीं पाया—और मेरी भावना-सीमासे परे होकर भी तुम मेरे आलिङ्गनमें बँधे हुए हो। अच्छी आँख-मिचौनी खेली!

इस लुक-छिपमें तुम्हारा पता कोई भी न दे सका। कलियोंसे जाकर मैंने पूछा—प्रिये! तुम्हारी साधना बहुत कोमल और मधुमय है—तुम बता दोगी साँवरेका पता?

कली बोली—अभी मैं साधनाकी बात क्या जानूँ? अभी तो मैं स्वयं अपने हृदयके बंद कपाटको खोल न सकी। अभी तो मेरी आँखोंपरकी पलकें गिरी हुई हैं—मैं चाहती हुई भी इन पलकोंको उठाकर अपने प्राणवल्लभको देख न पायी! देखो इन कठोर डंठलोंसे मैं प्यारेको देखनेके लिये ही बाहर कढ़ आयी और संसारके सम्मुख मैंने अपना घूँघट खोला। पर वह निठुर न मिला, न मिला! हृदयकी इस कसमसाहटमें जब मैं तड़प उठती हूँ तो मेरी ये पंखुड़ियाँ अपना रोम-रोम फैलाकर प्राणप्यारेकी आशामें खिल उठती हैं। मेरी उस चिटखमें कितनी विवशता होती है—कैसे कहूँ। फूल तो मेरी व्यथाका विकासमात्र है। मेरा यह लघु जीवन और इसकी यह अनन्त अतृप्त लालसा! अन्तिम कालतक भी मैं 'उन' का पथ देखा करती हूँ और जब हवाके कठोर झोंकेमें मेरी एक-एक पंखुड़ी पृथिवीपर गिरने लगती है तो मैं हृदयका मधु-कोष और सुगन्धकी धरोहर पवनको सौंपकर अन्तिम समय कहती हूँ—लो मेरा यह सर्वस्व—जब 'वे' मिलें तो उनके पादपद्मोंमें चढ़ा देना!

धूपदीप

मैंने वायुसे पूछा—तुम्हारी साधना परम व्यापक और अनन्त है। तुम संसारकी एक छोरसे दूसरी छोरतक चक्कर काटती हो और अपनी साधनामें आकाश-पाताल एक किये हुई हो—तुम बता सकोगी मेरे प्राणवल्लभका पता?

वायुकी विवशता बोल उठी—देखो, तुम्हारी ही भाँति सारी दुनियाँ मेरे सम्बन्धमें भ्रममें है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैंने प्यारेकी खोजमें संसारका कोना-कोना छान डाला, पर············!! समुद्रके कोमल-कोमल ठंडे-ठंडे कण लेकर, पुष्पोंसे गन्ध लेकर मैं विकल रात-दिन खोज रही हूँ—और जब उषा अपना रोरीभरा थाल लेकर आरती करनेके लिये लाल रेशमी साड़ी पहनकर तथा माँगमें सिन्दूर भरकर आकाशसे धरातलपर उतरने लगती है उस समय मैं उसके चरणोंमें सिहर-सिहरकर धीरे-धीरे उन्मद मन्थरगतिसे बहती हूँ और उसके आँचलको हिला-डुला देती हूँ—इस आशामें कि समर्पणके इस स्वर्गीय समारोहमें मैं भी अपने प्राणोंकी भेंट अपने हृदयेश्वरको चढ़ा सकूँ! परन्तु उषा अपने नायको आते देख सकुची-ठिठकी अदृश्यका घूँघट काढ़ लेती है और पर्देके भीतर चली जाती है—मैं पगली अपनी धुनमें फिर आकाश-पाताल छानती फिरती हूँ। मेरा सिहर-सिहर बहना देखकर संसार ठगा जाता है और यह अनुमान कर लेता है कि यह मिलनकी ही सिहरन है और उसी मधुर मङ्गल-मिलनकी ही यह साँय-साँय है परन्तु उसे क्या पता कि मेरे हृदयके भीतर कैसी भट्ठी धधक रही है जो मुझे एक पलके लिये भी चैन नहीं लेने देती।

तो फिर उषासे चल पूछूँ ! प्रभातका समय था—मैं समुद्र-के तटपर खड़ा था। देखा मैंने आरतीका थाल सजाये, लाल कुंकुमकी बेंदी दिये, लाल रेशमी साड़ी पहने, अधरोंमें मधु और आँखोंमें उन्मादभरी उषा धीरे-धीरे अरुणके आलिङ्गनके लिये आगे बढ़ी। उसने अपना घूँघट धीरेसे सरकाया और आँखोंको ऊपर उठा ही रही थी·······कि मैंने कहा—प्रिये ! मुझे भी इस समर्पण-समारोहमें सम्मिलित कर लो ! आज मैं भी अपना हृदय अपने 'देवता' के चरणोंमें चढ़ा दूँ !

उषाके कोमल अधरोंपर मुसकुराहट खिल उठी ! कुछ सकुचायी-सी वह बोली—आह ! मेरी इस अतृप्त लालसाको तुम देख पाते ! संसार मेरे रूप-माधुर्यकी स्निग्धता तथा आँखोंके उन्मद अनुराग और अधरोंकी मधु मुसकानको देखकर यह समझ लेता है कि मेरा यह स्निग्ध कोमल समर्पण अवश्य सच्चा होगा और मैं अवश्य अपने 'प्राण' को देख सकी होगी —परन्तु मेरी पूजाकी थाली ज्यों-की-त्यों धरी रह जाती है—मैं उसमेंसे कुंकुम उठाकर ज्यों ही अपने हरिके मस्तकपर लगा देना चाहती हूँ कि·······!! मेरा यह रूपसम्भार व्यर्थ गया ! मैं अभागिन अपने जीवनके सर्वस्वको सामने होते हुए भी देख नहीं पाती ! मेरे रूप-में जो कुछ तुम देख रहे हो वह है 'उस' से पहली भेंटकी स्मृति ! आँखोंमें राग और अधरोंमें मुसकान बनाये मैं अनन्त कालतक इसी वधूरूपमें 'उसे' खोजती रहूँगी—यही मेरा व्रत है। हृदयकी

बेचैनी जो शान्ति नहीं लेने देगी ! मेरे भीतरकी ज्वाला और उत्कट प्यासको तुम जान पाते !!

समुद्र मानो समाधिमें मग्न था । मैंने सोचा—इस अनन्त सागरके अथाह हृदयमें हरिकी झाँकी अवश्य उतरी होगी । इसने अपना विशाल हृदय अनावृत करके फैला दिया है—इसमें प्रभुजी-की रूप-आभा अवश्य छिटकी होगी । रात-दिन असंख्य नदियाँ आकर अपना सर्वस्व इसके चरणोंमें उँड़ेलकर इसके तलवोंको गुदगुदाती हैं परन्तु यह निःस्पृह साधक अपने देवताके ध्यानमें इतना निमग्न है कि इसे पता ही नहीं कि कहाँ क्या हो रहा है । किसी प्रकारकी भी ऐहिक प्राप्तिमें यह अपने हृदयको आन्दोलित नहीं होने देता । इसका ध्यान कितना अटल और अखण्ड है । इसकी साधना कितनी अगाध और अगम्य है । अपने प्राणनाथकी रूप-माधुरी पीनेमें यह इतना व्यस्त है कि अपनी साधनाकी अनन्यतामें संसारसे आँखें मूँद ली है ।

मैंने उसकी समाधि भङ्ग करते हुए पूछा—मुझे भी 'प्राण-प्यारे' के ध्यानमें डूबना सिखला दोगे ?

समुद्रके विषादमय वचन थे—कैसी समाधि और कैसा डूबना ? मैंने तो उसे ही देखनेके लिये अपना हृदय खोलकर उसके चरणोंमें बिछा दिया है । प्रातःकाल अरुणांशुकवसना उषा आती है, आरतीका थाल सजाये, रूप-लावण्यसे भरी हुई—और मेरे हृदयपर एक क्षणके लिये अपनी श्री छिटकाकर चल देती है । मैं

उससे पूछता ही रह जाता हूँ और पता नहीं वह कहाँ सकुचाती हुई छिप जाती है। रजनी तारोंका गजरा पहने हुए प्राणनाथकी खोजमें—अभिसार करती है—और मेरे हृदयपरसे होती हुई चली जाती है। मैं उससे 'प्राणनाथ' के देशका पता पूछता ही रह जाता हूँ पर कौन किसकी सुनता है। सूर्य उगता है, मेरे हृदय-पर तपता है और सन्ध्या होते समय जब अस्ताचलको जाने लगता है तो मैं पूछता हूँ—'मुझे भी प्रभुके चरण-प्रान्तमें लिये चलो।' सूर्य जाते-जाते कह जाता है—'मेरी खोज भी जारी है।' मैं गङ्गा-यमुनासे पूछता हूँ कि जिस देशसे आयी हो—जहाँसे निकली हो उसका कुछ हाल बतलाओ। वह सकुचायी हुई आकर मेरी गोदमें लय हो जाती हैं और कुछ पता नहीं बतलातीं।

और अपनी व्यथा? अपनी व्यथा मैं क्या कहूँ और कैसे कहूँ? मेरे भीतरका वड़वानल—प्रभुको पानेकी मेरी उत्कट लालसा अहर्निश—प्रतिपल मेरे हृदयमें आन्दोलन खड़ा किये रहता है। बाहर-बाहरसे मेरा रूप जितना ही गम्भीर और समाधिस्थ मालूम होता है, भीतरमें उतनी ही बड़ी बेचैनी है। जिससे पूछता हूँ वही यह कहता है कि मेरी खोज अभी जारी है। अथाह जलको रखते हुए भी मेरे भीतरकी ज्वाला—मेरे हृदयकी प्यास न बुझी, न बुझी! कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? किसे अपनी व्यथा सुनाऊँ? कैसे अपने हृदयकी प्यास बुझाऊँ?

समुद्रके ये वचन सुनकर मैं सहम गया। तो क्या खोजना ही खोजना है? इस पथमें खोजनेहीका नाम प्राप्ति है? खोजो

और फिर खोजो—खोजते जाओ—जन्म-जन्मान्तरमें खोजका यह मधुर प्रवाह न रुके। और इस पथका सम्बल है हृदयकी यह मीठी-मीठी, प्यारी-प्यारी प्यास !

प्रभु ! मेरे दयामय प्रभु ! यह प्यास, यह तड़प बनी रहे, हृदयकी यह मधुर वेदना बनी रहे, प्राणोंकी यह अमर विकलता बनी रहे; और कभी-कभी मेरे नाथ ! प्यासकी इस अमर ज्वालामें अपने रूपका आलोक फेंककर, मेरी विकलतामें अपने वरद करोंकी छाया डालकर इसे उसकाते रहना, इसे प्रज्वलित किये रहना। यह इतनी धधके कि बस यही यह रह जाय। प्यासकी इस महावह्निमें ही मेरा सर्वस्व मेरे 'सर्वस्व' के चरणोंमें श्रीकृष्णार्पण हो जाय !

संतोंकी प्रेमानुभूति

उधर ब्रह्मकी 'एकोऽहं बहु स्याम्' की अमूर्त वासना स्फुरित हुई, इधर कोटि-कोटि विश्वका रंगमञ्च नाच उठा। अभिनय प्रारम्भ हुआ। पात्र आने-जाने लगे और नाटकमें ऐसे तल्लीन हो गये कि उन्हें अपनी स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्ताका भान भी मिट गया। इस विराट् अभिनयकी कोई 'इति' नहीं, कोई ओर-छोर नहीं। पात्रोंका एक-पर-एक ताँता बँधा हुआ है; एक जाता है, दूसरा प्रकट होता है; ऐसे ही अनन्त कालतक चलता रहेगा। सृष्टि और प्रलय पटाक्षेपमात्र हैं—दृश्य-परिवर्तनमात्र हैं। यह अभिनय तो सृष्टि और प्रलयको पार करता हुआ चलता चलेगा।

इस अभिनयमें हम सभी पात्र हैं, सभी अपने-ही-अपने पार्टमें बेसुध हैं, दूसरेकी ओर देखनेका अवकाश ही नहीं है। हाँ, प्रभुकी यह भी एक लीला ही समझिये कि इन व्यक्तिगत स्वतन्त्र अभिनेताओंके क्रिया-कलापमें भी एक शृङ्खला है, एक प्रवाह मिलता है, अन्यथा सभीके पार्ट अधूरे अथ च अर्थहीन हैं। इन अस्पष्ट क्रियाओंके भीतरसे सूत्रधार अपना लीला-कुतूहल पूरा कर रहा है।

हम सभी इस अभिनयमें इस प्रकार संलग्न हैं कि हम भूल जाते हैं कि इसका कोई सञ्चालक या सूत्रधार भी है। यही खूबी भी है इस विश्व-रंगमञ्चकी। सभी अपनी-अपनी परिधि-पर नाच रहे हैं, पागल होकर, बेखबर होकर। एककी परिधि दूसरेकी परिधिके स्पर्शमें भले ही आ जाय परन्तु अतिक्रम नहीं कर सकती, लाँघ नहीं सकती। इन सारी परिधियोंका एक ही केन्द्र है; वह मूल केन्द्र इन भिन्न-भिन्न परिधियोंसे समान दूरीपर है। वही हमारा सूत्रधार है! और वही इस विराट् अभिनयका दर्शक भी है। हमारा सूत्रधार ही हमारा दर्शक है और फिर भी हमारे अभिनयकी एक स्वतन्त्र गति है, स्वतन्त्र संकेत है, स्वतन्त्र पथ है। कठपुतली नचानेवाला जाने कि उस पुतलीको कबतक किस-किस रूपमें नाचना है—दूसरे समझनेकी चेष्टा भी करें तो व्यर्थ ही न है।

इस रहस्यकी तहमें प्रवेश कीजिये। यह जीवन एक जागृत स्वप्न है। स्वप्नमें ऐसा प्रतीत होता है कि जो सुख-सम्भोग, राज-

पाट, धन-स्त्री, महल-अटारी, पुत्र-कलत्र आदि हम पा रहे हैं वे सब सर्वथा सत्य हैं। स्वप्न देखनेवालेके मनमें स्वप्न देखते समय यह तनिक भी नहीं भासता कि यह सब कुछ 'पानीका बुलबुला' भी नहीं है—यह सब कुछ हवाई किलासे भी गया-बीता है। संक्षेपमें, स्वप्न देखनेवालेको स्वप्न देखते समय स्वप्नकी असत्यता तथा भूलभूलैयाका पता भी नहीं चलता। वह बेखबर 'सपनेकी सम्पत्ति' का सुख लूटने लगता है कि…………!!! नींद टूटती है, आँखें खुलती हैं और वह देखता है उसके सामनेके महल और परियाँ पता नहीं कहाँ गायब हो गयीं। वह जागता है और देखता है कि वे सुख-भोग जिसे वह स्वप्नावस्थामें ठोस सत्य समझकर हृदयसे चिपकाये था—हवामें काफूर हो गये; बस वही टूटी खाट, वही उजड़ा हुआ छप्पर, वही फटी हुई चादर और बुझी हुई रोशनी! वह जागता है और सोचता है—अरे वे चीजें कहाँ गयीं? वे सुख कहाँ विलीन हो गये?

केशव कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून भीतिपर चित्र, रंग नहि, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरै भीति दुख पाइय इहि तन हेरे॥
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकररूप तेहि माँहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपुन पहिचानै॥

ठीक इसी प्रकार यह जगत् और हमारा जीवन भी है। यह संसार भी एक ठोस पदार्थ-सा प्रतीत होता है। यह जीवन भी एक अखण्ड सत्यका स्वरूप प्रतीत होता है। आज हम चक्रवर्ती हैं—कल निर्वासित अपरिचित साधारण दरिद्र व्यक्ति! आज जो रानी है कल वही सड़कोंपर झाड़ू देते नजर आती है। करोड़पति दाने-दानेके मुहताज हो जाते हैं; कंगालके घर सोना बरस जाता है। आँखों हम देखते हैं कि चार मिनटके भूडोलने किसकी कैसी दयनीय करुणाजनक स्थिति ला दी। यह सब कुछ हम देखते हैं फिर भी स्वप्न-का-स्वप्न ही बना रहता है—खुमारी टूटती नहीं। कभी ऐसा नहीं हो पाता कि आँखें खोलकर एक पलके लिये भी तो इस लचीले स्वप्नके 'उस पार' देखें। कभी ऐसा साहस नहीं होता कि स्वप्नोंके इस जालको छिन्न-भिन्न कर दें।

स्वप्नकी असत्यता तथा सपनेमें पायी हुई सुख-सम्पत्तिकी असारताको सोता हुआ व्यक्ति क्या और कैसे समझे? हम सभी इस जागृत स्वप्नके शिकार हैं। जाग जाना तो कठिन भी है न! परन्तु जो जाग जायगा उसके सामने यह बतलानेकी आवश्यकता ही न होगी कि जो कुछ तुमने देखा-सुना अथवा भोगा था वे सब व्यर्थ थे—कहीं उनका पता नहीं है। अपनेको होशमें ला देना ही स्वप्न और स्वप्नकी मायाकी व्यर्थता तथा असारता समझ लेना है। नींद टूटती है—वह बेचारा सोचने लगता है अरे मैं कहाँ-का-कहाँ लुभाये फिरा, मारा-मारा फिरा। मैं तो न उस महलका राजा ही हूँ; न उस परीका प्रेमी ही। मेरी सत्ता तो सर्वथा भिन्न है।

ठीक इसी प्रकार इस जीवनरूपी स्वप्नमें जगत्‌के वैभव व्यर्थ हैं, असार हैं—यह सब कुछ बतलानेकी आवश्यकता उस व्यक्तिके लिये नहीं है जो जाग चुका है और जो अपने वास्तविक सत्ताको समझता है।

इस जागृत स्वप्नको तोड़कर, आँखें खोलकर चलनेवाले संतों-ने हमें बार-बार चेताया है—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागदकी पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है॥

और बार-बार आत्माको उद्‌बोधित कर उस देशका संकेत किया है जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है—

यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

हंसा छाड़ि चलो वा देस जहाँके गये कोइ ना फिरै।

इसी सम्बन्धमें एक 'निर्गुन' भी है—

चलु मन जहाँ बसे प्रीतम हो, बैरागी मोरे यार।
लगली बजरिया अगमपुर हो, हीरा रतन बिकाय।
चतुर चतुर सौदा कइले हो, मूरख पछिताय॥
साँप छोड़ैले सँपकेंचुल हो, गङ्गा छोड़ैली अरार।
हंसा छोड़ैले आपन गिरिहि हो, जहाँ कोई ना हमार॥चलु०॥

रे मन! यहाँ क्या रखा हुआ है जो चिपटे हुए हो, चलो उस देशको चलें जहाँसे फिर इस ऐन्द्रजालिक दुनियामें लौटना नहीं होता। अगमपुरमें हीरे-रत्नोंकी हाट लगी हुई है, जो चतुर हैं वे तो सोच-समझकर सौदा कर लेते हैं, जो मूर्ख हैं वे हाथ मलते

रह जाते हैं। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुल छोड़ देता है और गंगा अपनी अरार छोड़ देती है, ठीक उसी प्रकार 'हंस' भी इस गृहको छोड़कर चल देता है—यहाँ अपना है ही कौन? रे हंस! उड़ो, चलें उस देशको जहाँ 'प्रीतम' है!

प्रायः सभी संतोंने पर्दा उठाकर सत्य सौन्दर्यको देखा था, इसीको श्रुति कहती है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
(ईश० ५)

सत्यके घड़ेपर सोनेका ढक्कन पड़ा हुआ है। हे सूर्यदेव! इस ढक्कनको हटा दो जिससे सत्य धर्मको हम देख लें। और देखनेके बाद—

'शरवत्तन्मयो भवेत्'

जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्यमें लय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्ममें लय हो जायँ।

इस जागृत स्वप्नके रहस्यको वही बतला सकता है जो स्वयं जाग चुका हो। इन्हीं जगे हुए व्यक्तियोंमें रामानन्द, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, रैदास, पीपा, दादू आदि हैं। इन्होंने जीवनके 'उस पार' को देखा था। इन्होंने संसारकी असत्यताका तीव्र अनुभव किया था, तथा अपने इस सान्त जीवनमें अनन्त आनन्दकी स्थापना की थी। हम इनको भक्त या ज्ञानी न कहकर संत कहना ठीक समझते हैं। अब देखना यह है कि इन संतोंने संसारकी असारता तथा जीवनकी असत्यताका प्रत्यक्ष

अनुभव करते हुए अपने हृदयमें प्रभुके प्रति प्रेमकी कैसी अनुभूति प्राप्त की थी। यह भूल न जाना होगा कि साधनाका प्राण है अनुभूति। अनुभूति संवेदन-मूलक होती है। हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष। मस्तिष्कका धर्म है विचार और वह है पुरुष। हृदयका धर्म है संवेदन और वह है नारी। इन दोनोंके पूर्ण संयोगसे ही साधनाका पथ सरल हो सकता है। हमें ज्ञानकी आगमें अपने कर्मोंको पवित्रकर भक्तिके हाथ सौंप देना है। भक्ति ही अपनेको श्रीकृष्णार्पण कर सकती है। भक्ति ही हरिके मन्दिरमें प्रवेशकर उनका पूर्ण संयोग प्राप्त करा सकती है। ज्ञान कर्मोंमें प्रकाश भर देगा, भक्ति उसमें ताप और जीवन देकर भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ा आयगी। ज्ञान विश्वसे वैराग्य बढ़ाता जायगा, भक्ति भगवान्‌के चरणोंमें सम्बन्ध दृढ़ करती जायगी। न कोई कोरा ज्ञानी होता है न कोई कोरा भक्त। भक्तमें ज्ञानी और ज्ञानीमें भक्त छिपा रहता है।

द्वैत और अद्वैत, ज्ञान और भक्तिके बाह्य प्रतिबन्धको हटाकर यदि हम संतोंकी जीवन-धारामें प्रवेश करें तो उनके हृदयमें एक अपूर्व प्रेमकी अजस्र धारा प्रवाहित होते पायेंगे। सभीके हृदयमें 'साजनके देश' में प्रवेश करनेकी और साईंकी सेजपर पौढ़नेकी तीव्र उत्कण्ठा रही है। सभीने इस शरीरके भीतर अनन्त छबिको घूँघट उठाकर भर आँख देखनेकी चेष्टा की है।

घूँघटका पट खोल रे, तोको पीव मिलैंगे।
सुन्न महलमें दियना बारि लै, आसनसों मत डोल रे।
जाग जुगुतसों रंगमहलमें पिय पायो अनमोल रे॥

घूँघटका पट खोल देनेपर 'प्रीतम' तो मिल ही गये, अब तो प्रतिपल उनके मधुर दर्शनमें मन माता-माता फिरता है। वह एक पलकी झाँकी आँखोंका चिरन्तन व्यापार बन गयी—अब तो सदा सर्वत्र 'वही वह' दीखता है। इस सहज समाधिका रूप भी कैसा लुभावना है—

जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम, सुनौं सो सुमिरन, खाऔं पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव मिटावौं दूजा॥

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥
(श्रीशङ्कराचार्यस्य शिवमानसपूजायाम्)

और—

खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुंदर रूप निहारौं॥

'जहाँ देखता हूँ वहीं तू-ही-तू है'—अब यह संसार जो सबको भुलानेका भ्रमजाल बुनता आ रहा है संतके लिये प्रभुका स्वरूप हो जाता है। बीचका द्वैत मिट जाता है। रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते सहज समाधि लगी रहती है—वह

समाधि जिसमें पत्नी अपनेको पतिमें सर्वथा लय कर देती है। यही 'रसो वै सः' है। जिस प्रकार पत्नीका पतिमें प्रेम होता है ठीक उसी प्रकार हमारा प्रेम प्रभुमें हो! समस्त विश्वमें हमारे प्रभुकी रूपश्री बिखरी हुई है और हम सदा उसके बटोरनेमें लगे हैं—

प्रभुजी! तुम चंदन, हम पानी।
जाकी अँग अँग बास समानी॥
प्रभुजी! तुम घन बन, हम मोरा।
जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी! तुम दीपक, हम बाती।
जाकी जोति बरै दिन राती॥
प्रभुजी! तुम मोती, हम धागा।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥

कबीरने अपनेको 'हरिकी बहुरिया' कहा तथा गोसाईंजीने भी 'कामिहि नारि पियारि जिमि' द्वारा अपनी भक्ति-भावनाको दृढ़ किया। श्रीहरिदासने 'घट घट हौं बिहरौं' की तीव्र अनुभूतिमें ही साजनके मधुर मिलनका रस पिया था।

सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गइ बिन तोले

मीराका तो इस सम्बन्धमें कुछ कहना ही नहीं है। वह तो भक्तिमें विह्वल होकर प्रेमके समुद्रमें कूद पड़ी—

हे री मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोय।
सूळी ऊपर सेज पियाकी, किस बिध मिलणो होय?

फिर भी वह प्रेमसाधनामें प्रवृत्त होकर 'साईंकी सेज' का सुख पा सकी, प्रेमका अमृत पी सकी।

प्रेमकी यह धारा समस्त विश्वके संतोंमें मिलती है। सभीने इस जीवनको प्राणवल्लभके चरणोंमें चढ़ाकर धन्य किया है। सूफियोंमें तो 'इश्क़ हकीकी' की वह तीव्र धारा चली कि सारा संसार उनके साजनका प्रतिबिम्ब बन बैठा। जायसी और कुतुबनने परमात्माको प्रेमीके रूपमें प्राप्त किया था। उनके लिये भी—

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।

इसी प्रेमानुभूतिको एक अंग्रेज भक्तिनके शब्दोंमें सुनिये—

It was a sweetness which my Soul was lost in; it seemed to be all that my feeble frame could sustain. There was but little difference whether I was asleep or awake, but if there was any difference, the sweetness was greatest while I was asleep.

'इस माधुर्यमें मेरी आत्मा डूब जाती थी! प्रेमके इस आवेशमें हमारा सारा शरीर बेसँभार हो जाता था। मैं जानती न थी कि मैं जाग रही हूँ या सो रही हूँ। हाँ, जब मैं सोती रहती थी, उस समय प्रेमकी यह बहिया और भी अधिक उमड़ पड़ती थी।'

आधी रात प्रभु दरसण दीनो प्रेम-नदीके तीरा।

ये वचन हैं तो मीराके परन्तु प्रेमकी इस दिव्य अनुभूति-को एक अमेरिकन भक्त महिलाके मुखसे सुनिये—

It was my practice to arise at midnight for purposes of devotion. It seemed to me that God came to me at the precise time and awoke me from

sleep in order that I might enjoy Him. When I was out of health or greatly fatigued, He did not awake me; but at such times I felt, even in my sleep, a singular possession of God. He loved me so much that He seemed to pervade my being, at a time when I could be only imperfectly conscious of His presence. My sleep is some times broken—a sort of half sleep; but my soul seems to be awake enough to know God when it is hardly capable of knowing anything else.

'आधी रात जागकर प्रभुकी प्रार्थना करनेकी मेरी आदत थी। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि प्रभुजी ठीक समयपर आकर मुझे जगा देते थे जिसमें मैं उनके प्रेमका अमृत पी सकूँ! जब मैं अस्वस्थ रहती या थकी होती तो वे जगाते तो नहीं परन्तु सोये-सोये ऐसा प्रतीत होता कि मैं प्रभुकी गोदमें हूँ। मुझे जब उनके आनेका भान भी न होता तो वे आकर मेरी आत्मापर अधिकार कर लेते थे। रातमें मेरी नींद उचट जाती है, कभी-कभी आधी सोई आधी जागी रहती हूँ, फिर भी उनकी उपस्थितिका भाव बराबर बना ही रहता है।'

संक्षेपमें, हमने देख लिया कि सर्वत्र संतोंने प्रभुके परम प्रेमका रसास्वादन एक अपूर्व ढंगसे ही किया है जिसे हम भक्तिके शब्दोंमें 'माधुर्य-भाव' कह सकते हैं। इस माधुर्यभावके क्रमिक विकास तथा भिन्न-भिन्न पहलुओंपर आगे प्रकाश डालनेकी चेष्टा की जायगी।

प्रार्थनाका प्रवाह

सन्ध्याका समय था। भगवान् सूर्यदेव अपनी लाल किरणें वसुन्धरापर स्मृतिके रूपमें बिखेर रहे थे। काशीमें दशाश्वमेध-घाटके नीचे एक नावपर विश्व-विश्रुत तपस्वी साधक पं० भवानीशङ्कर-जीके साथ मैं जा रहा था। काशी सेण्ट्रल हिन्दू स्कूलके अन्यतम अध्यापक परेश बाबू डाँड़ चला रहे थे। नाव दूर निकल चुकी थी। बीचोबीच गंगाजीमें हमलोग हरिश्चन्द्र-घाटकी ओर बढ़े जा रहे थे। दूरसे घण्टों, घड़ियालों और शङ्खोंकी तुमुल ध्वनि आ रही थी। स्थान-स्थानपर गंगाजीकी आरती उतारी जा रही थी। आरतीका यह दृश्य इतना आह्लादकारी, इतना महान् और

पावन था कि हृदय उसपर बरबस निछावर हो जाता था! काशीकी वह शोभा, वह महामहिम तेज हृदयमें सहसा भक्ति-श्रद्धाके भाव उद्बोधित कर रहा था! आँखोंमें, हृदयमें भगवान् शङ्करकी त्रिभुवनमोहिनी छवि नाच रही थी! गंगाका वह पावन 'अमृत' अनन्त प्रवाह सूर्यकी अरुणिमामें कुछ और ही रूप धारण किये हुए था। लगातार दस वर्ष मैंने काशीके गंगातटका प्रभात और सन्ध्या देखी है। प्रायः दोनों वेला गंगा मैयाके तटपर जाकर मैंने हृदयको प्रेममें खूब नहलाया है। प्रभातकी अरुणिमामें हमने एक (romance) चपलता, एक प्रखरता, एक अपूर्व आकर्षण और जादूका अनुभव किया है। प्रभातकी अरुणिमा गुलाबकी लाली-सी मनोमोहक और मीठी-मीठी सुगन्धसे भिनी-भिनी होती है; उसमें एक खींच लेनेकी, आकृष्ट कर लेनेकी प्रबल अजेय शक्ति भरी होती है। कभी भी ऐसा न हुआ होगा जब प्रभातकी अरुणिमा देखकर हमारा हृदय आनन्द और प्रेममें नाच न उठा हो! ऊपरसे मधुकी वर्षा होती रहती है, सामने गंगा मैयाका पावन प्रवाह है, और दाहिने-बायेंसे मन्दिरोंकी तुमुल जयजयकार।

सन्ध्याकालकी अरुणिमामें एक गम्भीर पवित्रता होती है, विषादकी एक अस्पष्ट झलक होती है। उषाकी लाली romantic है, सन्ध्याकी लाली solemn है, ऐसा ही बराबर मेरे हृदयने अनुभव किया है। हाँ, ठीक इसी प्रकारकी गम्भीर पवित्रताके

वातावरणमें हमलोग नावमें चले जा रहे थे। पं० भवानीशङ्करजीने कोमल और धीमे शब्दोंमें कहा—

संसारका घोर-से-घोर नास्तिक भी आकर काशीमें इस शोभाको देखे—हमारा ध्रुव विश्वास है कि परमात्माकी अपार सत्ताके सम्मुख उसका हृदय नत हुए बिना न रहेगा। वर्तमान बुद्धिवाद और आधिभौतिकवादकी सबसे संहारिक शक्ति तोप-बन्दूकोंमें ही सीमित न रही अपितु तर्कके बलपर लोगोंने ईश्वरकी सत्ताको भी अस्वीकार कर दिया। ये शब्द जब पूज्य पण्डितजी कह रहे थे उस समय वे बहुत ही भावपूर्ण हो गये थे। उनकी आँखोंसे एक अपूर्व तेज निकल रहा था जो तीरकी तरह सीधे हमारे हृदयमें जाकर अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर रहा था। उस सन्ध्याको पूज्य पण्डितजीके चरणोंमें जब मैं बैठा था बार-बार हृदयसे एक प्रार्थना निकल रही थी—

अबलौं नसानी अब ना नसैहौं।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं॥

विज्ञानकी चकाचौंधमें हमने आत्माको रौंद दिया है, हृदयको कुचल दिया है। अब लोगोंमें 'क्या ईश्वर है?'—ऐसा प्रश्न बहुधा पूछा जा रहा है। लोग समझने लगे हैं कि ईश्वर एक पुरानी खोपड़ीकी उपज है। आज तो 'नवीनता' का परम लक्षण ईश्वरकी सत्ताको मिटाकर 'नास्ति नास्ति' में विश्वास जमा देना ही समझा जाता है। यह है बाह्य, बनावटी (Superficial)

जीवनका परिणाम। हम जीवनकी तहमें प्रवेश करनेसे डरते हैं, घबड़ाते हैं। हमारी वृत्ति बहिर्मुखी हो गयी है—'खाओ, पीओ, मौज करो' ही हमारा परम लक्ष्य हो गया है।

ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित करना व्यर्थ है। वह है क्योंकि वह है। हमारा देखना-सुनना, चलना-फिरना, खाना-पीना सभी परमात्मासे ही प्रेरित हो रहा है। वह है, ईश्वर है—इसके लिये प्रमाणकी आवश्यकता ही नहीं है। आँखें खोलकर अखिल विश्वको देखें या आँखें बन्द कर अपने हृदयके भीतर देखें सर्वत्र परमात्मा है। तर्कके द्वारा उसे जानना कठिन है। उसे तो हृदयके भीतर ढूँढ़ना होगा और तभी उसके दर्शन होंगे। सभी बातोंमें 'क्यों' और 'कैसे' पूछनेकी आँधी पश्चिमसे आयी है और धीरे-धीरे भारतवर्षमें अपना प्रभाव बढ़ा रही है।

भारतवर्षमें अनादि कालसे ही ईश्वरकी अपार सत्तामें अखण्ड विश्वासका वातावरण रहा है। ऋषियोंने बहुत प्राचीन कालमें प्रभुकी परम सत्ताको घूँघटका पट हटाकर देखा था। वह अनादि सनातन-प्रवाह चलता चलेगा और इसे शङ्कर, रामानुज, वल्लभ, मध्व, रामानन्द, कबीर, नरसी, मीरा, रामकृष्ण, रामतीर्थ आदिने अपने प्राण देकर प्रवाहित रक्खा है। आस्तिकताका यह अमृत-प्रवाह किस वेग और उमंगके साथ भारतमें चलता रहा है!

आस्तिकताका प्राण है प्रार्थना। प्रार्थनामें अमोघ शक्ति है, अतुल बल है। भारतवर्षमें तो प्रार्थनाके महत्त्वको हम सभी

स्वीकार करते हैं, पश्चिममें भी अब इसकी शक्तिकी अपरिमेयतामें लोगोंका विश्वास बढ़ रहा है। लोग यह अब समझने लगे हैं कि प्रार्थना करना प्रत्येक व्यक्तिका मूल कर्तव्य है। प्रार्थनाका यह अर्थ कदापि नहीं है कि देवतासे हम किसी बातकी याचना करते हैं। उसका एकमात्र अभिप्राय यह है कि हम अपनी विराट् सत्ताके प्रवाहमें अपने तुच्छ अहंको लय कर रहे हैं। प्रभुकी इच्छाके सम्मुख हृदयको समर्पित कर रहे हैं। हम अपने भीतरके प्रकाशको चराचरमें बिखरे हुए प्रकाशमें मिला रहे हैं और अपनी अनन्त, अमर सत्ताकी अनुभूतिमें, अपने 'प्राण' के पावन मधुर स्पर्शमें अपनी तुच्छ व्यक्तिगत सत्ताका लोप कर रहे हैं। प्रार्थनाका सारतत्त्व यही है।

आज हम विदेशी महापुरुषोंके कुछ विचार प्रार्थनाके सम्बन्धमें उद्धृतकर यह दिखलाना चाहते हैं कि जिस पश्चिमकी भद्दी नकल कर हमने अपनी सभ्यता, अपना आचार, अपने विचार और अपनी संस्कृति नष्ट कर दी और जहाँके अन्धानुकरणमें भारतीयता एक प्रकारसे लुप्तप्राय हो चली है वहाँ लोग प्रार्थनाको कितना महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्राचीन कालमें हमारे यहाँ तो सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते हर समय प्रार्थनाकी प्रथा थी और लोगोंका यह दृढ़ विश्वास था कि परमात्माके सङ्केतपर ही यह समस्त चराचर अपना अस्तित्व बनाये हुए है। अस्तु

पूर्व और पश्चिममें समानरूपसे मनुष्य परमात्माके चरणोंमें आत्मनिवेदन करनेके लिये निम्नलिखित भावनाओंसे प्रेरित हुआ है।

प्रार्थनाका प्रवाह

(१) यह दृश्य जगत् उस अनन्त आध्यात्मिक ब्रह्माण्डका एक परमाणुमात्र है जहाँसे इसे समस्त शक्ति, प्रकाश और जीवनकी स्फुरणा मिलती है।

(२) उस अनन्त परमात्मशक्तिमें अपनेको लय कर देना, पूरी तरह मिला देना ही हमारे जीवनका एकमात्र और परम उत्कृष्ट उद्देश्य है।

(३) प्रार्थनाद्वारा ही हमारा उस अनन्त शक्तिसे, जिसे ईश्वर कहें या 'विधान', सम्मिलन होता है। प्रार्थनाके समय ही वह अचिन्त्य सत्ता अपने प्रवाहको हमारी ओर मोड़ देती है और हमारा उससे मिलनेकी मधुर क्रियाका उपन्यास यहींसे प्रारम्भ होता है। वह आध्यात्मिक शक्ति पिघलकर, ढलकर हमारी अन्तरात्माको अपनेमें एकाकार कर लेती है। इस प्रकार इस दृश्य जगत्में स्थूल, मानसिक अथवा आध्यात्मिक प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं।

(४) इस शक्तिके सम्यक् आविर्भूत हो जानेसे और हमारे जीवनकी अन्तर्धारामें एकरस हो जानेसे हम अपूर्व स्फूर्ति, उत्साह, आनन्दकी प्रेरणा अनुभव करते हैं; क्योंकि ब्रह्माण्डकी सञ्चालिका शक्ति अपनी स्फुरणा हममें भर देती है।

पूर्वमें या पश्चिममें प्रार्थनाकी प्रेरक भावना समानरूपसे यही है। प्रार्थना ही धर्मकी मूल आत्मा है इसे कोई अस्वीकार

कैसे करेगा ? एक फ्रेंच महात्माने प्रार्थनाकी बड़ी सुन्दर परिभाषा लिखी है—'धर्मकी आत्मा तभी जागृत होती है जब हमारे अन्तः-करणसे एक करुण चीख अपने प्राणवल्लभ प्रभुसे मिलनेके लिये उठती है। परमात्माके साथ हमारा यह महामिलन (Intercourse) ही सच्ची प्रार्थना है। प्रार्थना ही धर्मका वास्तविक क्रियात्मक स्वरूप है, प्रार्थना ही एकमात्र सच्चा धर्म है! जहाँ इस आन्तरिक प्रार्थनाका अभाव है वहाँ धर्म भी मिट जाता है। जब प्रार्थना आत्माको आन्दोलित कर दे, जब यह अन्तस्तलके एक-एक तन्तुको हिला दे, जगा दे तभी हम धर्मके सत्यस्वरूपके स्पर्शमें आ जाते हैं!'

प्रार्थनाके समय तो ऐसा प्रतीत होता है मानो मिलनेकी भूख-प्यास इधर भी थी, 'उधर' भी। प्रार्थनामें जीवनका एक-एक परमाणु सञ्चालित और आन्दोलित हो जाता है। धर्मका व्यावहारिक स्वरूप तो प्रार्थनाहीमें उत्फुल्ल हो उठता है। प्रार्थनाके समय हम प्रभुमें मिल जाते हैं अतः हमारी शक्ति और सत्ताका विस्तार अनन्त शाश्वत एवं परम विराट् हो जाता है।

ब्रिस्टलमें जार्ज मूलर नामका एक प्रसिद्ध दानी और परोपकारी महापुरुष हो चुका है। १८९८ में उसकी मृत्यु हुई। जीवनके प्रारम्भिक कालमें उसने बाइबिलसे कुछ प्रतिज्ञाएँ लीं और उन्हें कार्यरूपमें परिणत करने लगा। उसने भिन्न-भिन्न भाषाओंमें दो करोड़ बाइबिलकी प्रतियाँ मुफ्त बाँटीं। वह पाँच अनाथालय चलाता रहा, जिनमें हजारों अनाथोंकी शिक्षा-दीक्षा, भोजन-वस्त्रकी

सुन्दर व्यवस्था थी। स्कूल खुलवाये, जिनमें बारह हजार विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। ६८ वर्षतक वह राज्यका महामन्त्री रहा, परन्तु अपने पास उसके साधारण कपड़े और सामानके सिवा कोई सम्पत्ति न थी। मूलर एक प्रकारसे ब्रिस्टलका मालवीय ही था।

उस परम दानी मूलरका यह स्वभाव था कि अपनी साधारण बातोंको तथा महत्त्वाकांक्षाओंको किसीपर भी प्रकट नहीं होने देता था। अपना हृदय वह केवल परमात्माके सामने खोले रखता था। उसकी जब एक कुंजी खो जाती, कोई कठिन बात समझमें न आती तो बैठकर बड़े ही करुण शब्दोंमें ईश्वरसे प्रार्थना करता! मूलर किसी भी मनुष्यका अहसान नहीं लेना चाहता था। उसका नियम ही था 'Owe no man anything.' जब उसके अनाथालयों या स्कूलोंके लिये रुपयेकी आवश्यकता होती तो बैठकर बड़े ही आतुर शब्दोंमें भगवान्से प्रार्थना करता! एक समयकी बात है। सन्ध्या हो चुकी थी। अनाथालयमें जलावन न था। यों तो कोई भी व्यापारी लाखों रुपयेकी वस्तु उसे उधार दे सकता था, परन्तु मूलरका एक यह भी सिद्धान्त था कि कोई भी वस्तु ऐसी न खरीदो जिसका मूल्य उसी समय चुकता न कर दो। अब जलावन आवे तो कहाँसे—इसी चिन्तामें वह डूब रहा था। वह अपने कमरेको बन्द कर प्रार्थना करने लगा—आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली—'प्रभो! इन अनाथालयोंका भार मैंने तुम्हारे ही बलपर लिया है। इन अनाथोंकी चिन्ता तुम्हारे ऊपर है। इन्हें

रोटी पहुँचाना तुम्हारा काम है....'प्रार्थना पूरी भी न हुई थी कि दरवाजेपर खटखटाहटकी आवाज आयी और ज्यों ही कमरा खोला, उसने देखा, अनाथालयके सहायता-खातेमें दो हजार पचास पौण्ड किसीने भेजे थे ! वह बराबर कहा करता था, 'I believe that God hears me'—'मेरा यह विश्वास है कि प्रभु हमारी प्रार्थना सुनते हैं ।'

प्रार्थनाके समय चित्तके अहङ्कार, दम्भ, पाप, पाखण्ड आदि धुल जाते हैं । हृदयका वातायन खुल जाता है और परमात्माका शुभ्र प्रकाश हमारे हृदयके अन्तस्तलमें आ जाता है । समस्त अन्तर्जगत् प्रकाशमय, तेजोमय हो जाता है । महात्मा एपिक्टेटस कहता है, 'वह प्रभु जिसने घाससे दूध, दूधसे पनीर और मक्खन और खालसे ऊन बनाया, क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है कि हम उसके चरणोंमें उसकी अनन्त कृपाओंके लिये माथा टेकें ?' उसका कथन है 'We are actually killed with God's kindness.' तात्पर्य यह है कि प्रार्थनाके समय हमारी आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति जो यों व्यर्थ ही सोयी रहती है, जागृत हो जाती है और हमारे जीवनका आध्यात्मिक प्रकाश बल उठता है, हृदयका कोना-कोना जगमग-जगमग करने लगता है ।

प्रार्थनामें माँगनेकी प्रवृत्ति, रोग, विपत्ति, ऋण, आपदा आदिसे बचनेकी कामना और इन कामनाओंकी पूर्तिके लिये परमात्मासे प्रार्थना करना मनुष्यकी आदिम वृत्ति है । अन्तमें

चलकर तो माँगनेकी प्रवृत्ति स्वयं मिट जाती है। क्या माँगा जाय ? समस्त विश्वके अधिपति, समस्त चराचरके अधिनायक प्रभुकी सारी सम्पत्ति ही तो हमारी है। फिर माँगना क्या ? सब कुछ तो, हम भी तो 'उसी' देवताकी सम्पत्ति हैं जिसके चरणोंमें हम आत्म-समर्पण कर रहे हैं। प्रार्थनाकी सरिता आत्मसमर्पणके महासमुद्रमें जाकर लय हो जाती है। वहाँ न कुछ इच्छा है, न कामना। बस, वहाँ एक ही ध्वनि है—एक ही तान है—

मालिक तेरी रज़ा रहे औ तू ही तू रहे।
बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे॥

प्राणोंकी साध

एक दिन भी, एक क्षणके लिये भी यह स्वप्न टूट जाता ! एक पलके लिये भी यह समझ पाता कि यह सब कुछ सपनेकी सम्पत्ति है—एक बार हृदयकी काई धुल जाती, पापोंके दाग मिट जाते ! एक बार भी हृदयकी निर्मल निर्झरिणीमें तुम्हारा प्रतिबिम्ब देख पाता ! पर मनकी चञ्चल लहरें हृदयके वास्तविक सौन्दर्यको नष्ट कर देती हैं और हृदयपर उतरी हुई तुम्हारी तस्वीरको बिगाड़ देती हैं । मैंने कई बार साहस बाँधा, कई बार पूरी शक्ति लगाकर मनकी लहरोंको बाँधा परन्तु········अचानक जोरोंकी बाढ़ उमड़ आती है; विश्वका कोलाहल प्रतिध्वनित हो उठता है—मन तो स्वतः डवाँडोल है ही, हृदयकी पवित्रतापर भी कालिख पोत देता है ।

लाचार होकर अपनी हार अपनी आँखों देखनी पड़ती है ! यह है नित्यका आन्तरिक द्वन्द्व । कैसे पहुँचूँ तुम्हारे चरणोंकी छायामें ?

*　　*　　*

फिर भी तुम्हारे पथमें चलनेका प्रलोभन रोका नहीं जाता । त्रुटियों, अपराधों और पापोंका यह दुर्बल पुतला तुम्हारे दिव्य तेज:पुञ्जकी ओर आकृष्ट तो हो ही गया है और साधन-हीन होते हुए भी तुम्हें पानेकी अभिलाषा हृदयमें प्रतिपल बढ़ती जाती है ! हृदयकी इस प्यासको मिटानेके लिये विश्वकी विविध विभूतियाँ आयीं, संसारके अनेक प्रलोभन आये—परन्तु जीकी कचट न मिटी, हृदयकी ज्वाला शान्त न हुई ! अब तो कुछ ऐसा हो गया है कि इस उफानमें ही जीवनका सत्व प्रविष्ट हो गया है । संसारके इस बाह्य-फेनिल रूपपर आँखें टिकती ही नहीं—तुम्हें ही देखनेके लिये व्याकुल आँखें तुम्हारी प्यासमें ही तड़फड़ा रही हैं ।

*　　*　　*

ये सब कुछ भुलावेमें डालनेके लिये हैं ! ऐसा प्रतीत होता है मानो हमें पथ-भ्रष्ट करनेके लिये ही प्रकृतिने इतने लुभावने रूप धारण किये हैं—ये नाना प्रकारके इन्द्रजाल रच डाले हैं । प्रातः-काल उषा आती है, लाल रेशमी साड़ी पहनकर जिसकी किनारीपर सोनेकी झिलमिल-झिलमिल आभा छिटकी रहती है, वह आकर्षण और मधुका प्याला हाथमें लिये आती है, उसके अधरोंपर अरुणिमा-का साम्राज्य है, आँखोंमें बेहोश कर देनेवाला जादू !! अपने समस्त

वैभव और आकर्षणको बिखेरकर जब गङ्गाकी लहरोंपर खेलने लगती है—जब समस्त विश्व उसकी प्रेम-मदिरामें बेसुध होने लगता है, उस समय मेरी ये ललचायी आँखें भी प्रेमके इस विराट् समारोहको देखकर, सौन्दर्यकी इस स्वर्गीय क्रीड़ाको देखकर कुछ अलसायी-सी, कुछ जगी-सी ऊपर उठती हैं और हृदयसे सहज ही एक प्रश्न उठता है—सखि ! यह शृङ्गार, यह रूप-सम्भार किसके लिये ? किसकी खोजमें बावरी-सी आकाश-पाताल एक किये जा रही हो; सारे संसारमें अपने प्रेमकी खुमारी बिखेरकर कहाँ किसकी खोजमें अनन्तकालसे पागल हो ? न पाकर लजा-कर गुपचुप भाग जाती हो—फिर खोजकी खोज ?

* * *

चन्द्रमा और तारोंका दीप जलाकर नीली चादर ओढ़े रजनी वन-पर्वत-समुद्र सर्वत्र तुम्हारी खोजमें है। सूर्यकी प्रखर ज्योतिमें दिन तुम्हें खोज रहा है। सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह-नक्षत्रों-की बत्ती लेकर समय अपने जन्मसे ही तुम्हारी खोजमें विह्वल-सा लड़खड़ा रहा है। यह हवा भी उस 'रूप-हीन' की खोजमें स्वयं अरूप होकर पता नहीं कहाँ-कहाँ टकराया करती है ! समुद्र अपनी सारी गम्भीरता, सारा ऐश्वर्य भुलाकर पूनोकी रातमें एक बार ऊपर उठता है, अपनी सारी लहरों, उद्वेगों, कामनाओंको लेकर ऊपर उठता है पर अपने प्राणवल्लभको छू न सकनेके कारण उसका हृदय बैठ जाता है ! चन्द्रमाकी कोमल किरणोंके सहारे ऊपर चढ़कर 'साजन' की मूर्ति देखनेके लिये इस नादान सागरका

तुच्छ प्रयत्न ? जो सहस्र-सहस्र नदियोंके मिलनेपर भी अपना गौरव क्षुब्ध नहीं होने देता, जो एक क्षणके लिये भी यों चञ्चल नहीं होता........वही आतुर समुद्र प्रेममें पागल होकर किसके चरणोंको चूमनेके लिये ऊपर उठता है ?

* * *

खोजकी कोई 'इति' नहीं। खोज 'समर्पण' के महासागरमें प्रवेशकर अपने आराध्य देवमें लय हो जाती है। उस समय 'मैं' 'तुम'में मिल जाता है, मिट जाता है। उस समय 'तुम-ही-तुम' रह जाता है। 'मैं'-जैसी कोई वस्तु रह नहीं जाती। बर्फ गलकर पानी ही हो जाता है--पानीसे ही निकला था पानीमें ही मिट जाता है। नदियाँ समुद्रमें जाकर अपना नाम और रूप गँवा देती हैं।

'मैं' भी तुमसे ही निकला हूँ और प्रतिपल तुममें प्रवेश कर रहा हूँ। विश्वकी अतुल शोभा और मादकता मुझे सतत तुम्हारे ही पथमें चलते रहनेको प्रोत्साहित करती है। खोजना ही पाना है। पानेका ही दूसरा नाम खोज है। खोजमें ही तुम्हारी मधुर छवि चहकती रहती है। तुम्हें 'अपना' कहकर तुम्हारे पथमें चलना--पहाड़ोंसे टकराना, कँटीले जङ्गलोंसे लड़खड़ाना ही साधना है---गिरना, गिरकर उठना और फिर शान्तरूपमें तुम्हारे पथमें चलना---बस, यही मनुष्यके हिस्से पड़ा है।

* * *

बस चलना-ही-चलना है—खोजना-ही-खोजना है ! खोजमें मिटा देना ही उत्कृष्ट साधना है। जीवनकी मन्दाकिनी बहती चले, भावनाकी गङ्गा बहती रहे—साधनाका प्रवाह चलता चले—उसके तटपर हरिद्वार आवे, प्रयाग आवे, काशी आवे तो भी अच्छा, श्मशान आवे, विस्तृत मरु-भूमि आवे, मनोहर वनस्थली आवे अथवा उजड़ा हुआ लोक आवे—सब ही अच्छा !! एक झलक लेकर आगे बढ़ना है। कहीं तो 'हर हर महादेव शम्भो काशी विश्वनाथ गंगा' की तुमुल आह्लादकारी ध्वनि सुन पड़ेगी और कहीं 'राम नाम सत्य है' की कोमल करुण आर्त्त चीत्कार। जीवन-गंगाके लिये तो दोनों समान ही हैं न। शवकी राख या पूजाके पुष्पमें भेद ही क्या है ? सब कुछ तो 'समर्पण' ही है !

* * *

हाँ जीवनकी गंगाकी गति न रुके, न रुके, न रुके। पहाड़ोंको काटकर, मरु-भूमिको चीरकर, वनस्थली और तीर्थ-स्थानोंमें बिना विरमे हुए यह बहती चले। तीरपरकी वस्तुएँ धाराको कैसे लुभा भी सकती हैं ? तीर तीर ही है, धारा धारा ही। तटकी शोभा भी तो धाराके कारण है। बालू कुरेदकर जल देनेसे ही फल्गू फल्गू बनी हुई है, नहीं तो वह बस स्मृतिकी वस्तु रह जाती ! गंगा भी चिताकी राख और पूजाके पुष्प-दीपसे अन्यमनस्क होकर, निर्विकाररूपमें बहती चली जाती है। वह लेकर क्या करेगी ? उसका तो व्रत ही देना, बस देना और फिर भी देना ही है। यमुना और सरयूको भी वह साथ लेकर

उलीचनेके लिये ही आगे बढ़ती है—अपनेको सम्पूर्ण वायु-मण्डल, समस्त हित-नातके साथ समर्पित करनेके लिये ही आगे बढ़ती है! वह बढ़ती है—और जब—अह! वह भी एक दृश्य ही है—जब गंगा शत-शत धाराओंमें विह्वल होकर पागलकी भाँति समुद्रकी ओर टूटती है! समर्पणकी तीव्र ज्वाला जो अपने भीतर हिमालयसे छिपाये आ रही थी—फूट पड़ी—कोटि-कोटि धाराओंमें हृदयसे फूट वही—और वहाँ सागरके गर्भमें समाकर गंगा अपना नाम और रूप खो देती है, समर्पित कर देती है! उसके बाद कहाँ है गंगा और कहाँ है सागर?

* * *

कहाँ जाऊँ, कैसे खोजूँ? किन-किन रूपोंमें, किस-किस वेशमें, कहाँ-कहाँ खोजूँ! खोजका अभिमान भी प्राणोंके संस्कारके साथ लिपटा चला आता है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' तो कोरी कथकड़ी है। कहाँकी खोज, और किसे पाना? सबमें रमता हुआ, सर्वत्र ओत-प्रोत भला खोजका विषय है? यह खोजकी धुन भी तो अहङ्कारका ही विकार है। आज मैंने इस खोजके अभिमानको भी दूरकर, निरावरण होकर, सर्वशून्य होकर आँखें बन्द कर ली हैं—आज यहीं और अभी, बिना खोजके और बिना एक पलके विलम्बके तुम्हें आलिङ्गनके पाशमें बाँध लेना है। आज समुद्र ही स्वयं सरिताको अपनी अनन्ततामें मिलानेके लिये खोजका लंबा रेतीला पथ पारकर आयेगा—आज स्वयं तुम्हें ही अपने पैरों चलकर मेरी भुज-लताओंमें बँध जाना

पड़ेगा—बस, इसी हठमें मैंने खोजना छोड़कर आँखें बन्द कर ली हैं !

*　　　*　　　*

ये शब्द-ही-शब्द हैं। मैं इन शब्दोंमें वैसे ही उलझ गया हूँ जैसे मकड़ी अपने बुने हुए जालमें। स्वप्नके बाद स्वप्न। प्रवाह टूटता ही नहीं—गति रुकती ही नहीं। इच्छाओंकी कहीं 'इति' भी है ? एक पूरी हुई नहीं कि दूसरी शुरू हो जाती है और तीसरीकी धुँधली छाया दीखने लगती है। इच्छाओंके इस व्योड़े-दुहरे प्रवाहमें जीवनका वास्तविक ध्येय पता नहीं कहाँ लुप्त हो गया है। भूले-भटके जो कभी तुम्हारी याद आ भी जाती थी—वह भी अब न रही। कभी तुम इस हृदयके वृन्दावन-में भी आये थे—कभी रास छिड़ी थी, कभी मुरली बजी थी—ऐसा विश्वास नहीं होता। अब तो सूनी निर्जन मरुभूमि है और उसमें इच्छाओंकी मृग-मरीचिका। आँख मूँदकर इन किरणोंमें, इस उत्तप्त रूपमें जलकी आशासे दौड़ा जा रहा हूँ। कहाँका जल, कहाँकी तृप्ति ? आज आँखोंपरकी पट्टी खोल दो ! आज हृदयका तिमिर अपनी किरणमालासे मिटा दो, जिसमें सर्वत्र ज्योति-ज्योति, सर्वत्र तुम्हारा रूप-ही-रूप, सर्वत्र तुम्हीं-तुम दिखो। इसके आगे चाहना ही क्या है ?

समर्पणकी ज्वाला

श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने जब जगत्‌के अणु-अणुमें बिखरी हुई अपनी विभूतिका वर्णन किया तो अर्जुनको आश्चर्य हुआ कि भला यह हमारा सखा कृष्ण इस प्रकार चराचरमें ओतप्रोत कैसे हो सकता है। उनसे नहीं रहा गया और उन्होंने भगवान्‌के विश्वरूपको देखनेकी लालसा प्रकट की। भगवान्‌ने जब अपना विराट्‌रूप दिखलाया तो अर्जुन काँपने लगे! उन्होंने देखा कि भगवान्‌के दाँतोंके दाढ़ोंके बीच अनेक ब्रह्माण्ड चूर-चूर हो रहे हैं। जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्रमें लय होती हैं उसी प्रकार सारा संसार ईश्वरमें लय हो रहा है। अर्जुनकी आँखें खुलीं और वे

सोचने लगे—हाय ! मैंने हँसी-खेलमें, उठते-बैठते, भोजन करते और सोते समय इस चराचरके स्वामीको कृष्ण, यादव और सखा कहकर अपमानित किया है, हाय कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ? ग्लानिसे भरे शब्दोंमें काँपते हुए अर्जुनने कहा—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

हे प्रभो ! मैंने प्रमाद और प्रणयके वशमें आकर, तुम्हारी इस अनन्त महिमाको न समझते हुए तुम्हें अपना स्नेही मित्र मानकर कृष्ण, यादव, सखा नामसे सम्बोधित किया है ! अब अर्जुनसे क्षमा माँगते भी नहीं बनती ! कहाँ जायँ, क्या करें ! हाथ जोड़कर करुणा-गद्‌गद शब्दोंमें, अवरुद्ध-कण्ठ, सजल-आँख, काँपती हुई वाणीमें अर्जुन कहते हैं—

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

जिस प्रकार पिता पुत्रके अपराधको, मित्र मित्रके अपराधको, प्रेमी प्रियाके अपराधको क्षमा कर देता है, उसी प्रकार हे प्रभो ! तुम भी मेरे अपराधोंको क्षमा कर दो, मुझे सह लो । अर्जुनने भगवान्‌को अपना पिता कहा परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ, मित्र कहा फिर भी तृप्ति नहीं हुई; अन्तमें आकर अपना प्रेमी बनाया ।

भक्त अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सर्वभावेन समर्पण करना चाहता है । उसे एक क्षणका भी वियोग असह्य हो उठता है ।

वह देखता है, प्रभुजी इस संसारके समस्त जीवोंमें व्याप्त हैं, वह अपने हृदयके अन्तस्तलमें भी अपने जीवन-धनकी मञ्जुल-मूर्तिकी झाँकी पाता है—फिर भी द्वैतका अन्तर उसे खलता रहता है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई को रे मिलाव, कहौं केहि रोई ।

हृदयके वृन्दावनमें भावनाकी यमुना-तटपर साधनाकी कुञ्जों-के भीतरसे वंशीकी एक टेर आती है, हृदय विह्वल हो उठता है, प्राण व्याकुल हो उठते हैं, आँखें तृषित—लालायित अपने 'सर्वस्व' की खोजमें विकल हो उठती हैं—वंशी बजती रहती है, वहाँका आकर्षण और जादू !!

हृदय अपनेको निछावर करनेके लिये उद्वेलित हो उठता है—अन्तस्तलकी लहरोंकी हलचल आँखोंकी खिड़कीसे देख सकते हैं—जब रिमझिम-रिमझिम फुहियाँ बरसने लगती हैं, आहोंके कुञ्जमें प्रणयकी मृगछौनी उस बेपीर गायककी टेरपर मृत्युकी गोदमें छलाँग मारनेके लिये तड़प उठती है; रोम-रोमसे प्राणनाथ, प्राणनाथकी झंकार होने लगती है, चराचरके अणु-अणुमें श्रीकृष्णकी माधुरी छलकने लगती है, सर्वत्र उस मधुमय लोकमें प्रवेशकर, रासमें सम्मिलित होनेका आमन्त्रण-गीत सुनायी पड़ने लगता है—उस समय हृदयकी क्या दशा होती है, जीकी कैसी विकलता होती है—कैसे कहा जाय ?-

The desire of the moth for the star
　　Of the night for the morrow,
The devotion to something afar
　　From the sphere of our sorrow.

बिन्दु समुद्र बननेके लिये व्याकुल है, परमाणु अणुमें लीन होते जा रहे हैं—नदियाँ अपने प्राणवल्लभमें मिलकर अपना नाम-रूप गवाँकर, उसीमें विलीन होकर, अपने जीकी जलन मिटाती हैं। हम भी अपने प्राणनाथमें लय होनेके लिये प्रतिपल, प्रतिक्षण तरसते रहते हैं, तड़पते रहते हैं। हमारी यह तड़प हमारे हृदयकी सच्ची लगन है, एकमात्र ज्वाला है। हम प्रभुको अपना पिता मानकर चरणोंमें सिर नवाते हैं परन्तु हृदयकी भूख-प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। हृदयकी ज्वाला और भी अधिक लहकती ही जाती है। 'पितेव पुत्रस्य' मात्रसे हमारा जी नहीं भरता! पिता पुत्रके अपराध-को कहाँ क्षमा करता है? आतुर होकर हम अपने स्वामीको सखा मानकर हृदयसे लगा लेते हैं परन्तु समानतामें समर्पण कहाँ? विरहकी ज्वाला हमें चैन नहीं लेने देती और हम अपनी सारी दुर्बलता, सारे पाप एवं अपराधोंको लिये हुए अपने 'प्रियतम' के चरणोंमें गिरते हैं—'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥'

प्रेमी अपनी प्रियाके अपराधोंको भूल जाता है। प्रेमकी ज्वालामें अपराध और त्रुटियाँ स्वयं भस्म हो जाती हैं। हमारे हृदयका कोना-कोना प्रभुके प्रेमसे आलोकमय, मधुमय हो जाता है। समस्त चराचरमें उसीका, बस केवल उसी एकका जलवा, उसी एककी छवि! 'जहाँ देखता हूँ सनम रूबरू है!' मेरा 'मैं' उसके 'तू' में लय हो गया है! प्रेमी और प्रेमिकाका द्वैत केवल आनन्दोल्लासका प्रवर्द्धक द्वैत है—प्रेमकी तरङ्गोंको उभाड़नेवाला द्वैत है—वस्तुतस्तु वहाँ द्वैतकी कोई गुंजाइश ही नहीं! पत्नी

पतिमें अपनेको खो देती है, गँवा देती है। वैसा किये बिना उसे कल नहीं, चैन नहीं, शान्ति नहीं।

ठीक यही स्थिति भक्त-हृदयकी भी है। वह अपने स्वामी, अपने 'प्राण' से एक क्षणका भी वियोग सह नहीं सकता! इस भावको हम द्वैत और अद्वैतकी भाषामें समझ नहीं सकते! भक्तिमें न द्वैत ही है न अद्वैत ही। उसमें एक विचित्र नशा है, अजब जादू है, एक अपूर्व आत्मविस्मृति है जिसे हम द्वैत और अद्वैतकी नपी-तुली भाषामें प्रकट नहीं कर सकते। भक्त भगवान्में लय होनेके लिये तड़पता रहता है—फिर भी वह उस छबिको, जिसे उसने अपनी आँखोंके द्वारसे लाकर हृदयके मन्दिरमें बड़े प्रेम, उल्लास एवं तमन्नाके साथ प्रतिष्ठित किया है—भूलना नहीं चाहता! इस समर्पणमें द्वैत-अद्वैतका एक विचित्र सम्मिश्रण है।

शरद्-ज्योत्स्ना-प्लावित यमुना-तटपर गोपालकी वंशी छिड़ती है। करीलके एक-एक कुञ्जसे कृष्ण-कृष्णकी गुञ्जार हो रही है। दूरतक फैले हुए सिकता-खण्डका एक-एक कण मधुमदिर-मय हो रहा है। सर्वत्र एक विचित्र उन्मादका वायुमण्डल ओत-प्रोत है। कृष्णकी मुरली बजती है और—

वंसी धुनि सुनि गोप कुमारी।
अति आतुर ह्वै चलीं श्याम पै
तन मनकी सब सुरति बिसारी।
गलको हार पहिरि निज कटि महँ
कटिकी किंकिणि गल महँ डारी॥

एक नैन अञ्जन बिनु सोहै
एक नैनमें काजर सारी ॥
कोउ भोजन पति परसत दौरी
कोउ भोजन तजि दीन्हीं थारी ॥
'नारायण' जो जैसी हुती घर
सो तैसिहिं उठि विपिन सिधारी ॥

जो जिस स्थितिमें है वह वैसे ही कृष्णसे मिलनेके लिये कुञ्जकुटीरे यमुनातीरे भागती हैं;—नाचते-नाचते—

लोचन श्यामरु, बचनहिं श्यामरु
श्यामरु चारु निचोल ।
श्यामर हार, हृदय-मणि श्यामर
श्यामर सखि करु कोल ।

काले अन्तस्तलमें बहती हुई साँवली यमुनापर हरित बाँसकी बाँसुरी छेड़नेवाले श्यामसुन्दर ! यहाँ 'लोक-लाज' तथा 'कुलकी कानि' का खयाल ही कैसे रह सकता है ? हमें जब सर्वभावेन उसी परम प्रेमीकी शरणमें जाना है तो संसारका यह आवरण क्यों रहे ? हमें सर्वथा निष्किञ्चन होकर, अनावृत होकर, सर्वशून्य होकर, 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये' का भाव लेकर हरिके चरणोंमें अपने हृदयकी तुच्छ भेंट चढ़ानी है । सर्वं खल्विदं श्रीकृष्णार्पणमस्तु !

कौन जतन बिनती करिये ?

हृदय बैठ जाता है, निराशा घिर आती है और प्राण सूखने लगते हैं जब अपनी करनीपर कभी दृष्टि जाती है। दुनियांके वाह-वाहमें फ़ूला-फ़ूला फिरता हूँ। ऊपरी वेशको देखकर भोले-भाले लोग ठगे जाते हैं। किसीको ठीक-ठीक दूसरेको पहचाननेके लिये समय ही कहाँ है; बस ऊपरी तड़क-भड़क अथवा सादगीसे ही हम दूसरोंके चरित्रका अनुमान कर सन्तोष कर लेते हैं। मेरे सम्बन्धमें भी लोग धोखेमें हैं। भीतरका घृणित लोक और उसकी दारुण पापवासना, उफ ! घोर नरकसे भी भयङ्कर है। उसपर आडम्बर, सादगी और साधुताकी चादर डाले संसारकी दृष्टिमें, लोगोंकी नज़रमें 'भला' कहलाकर कितना प्रसन्न होता हूँ। कितना

सन्तुष्ट होता हूँ! हूँ चाहे जैसा भी, परन्तु लोग भला समझते रहें, नेक कहते रहें, साधु मानते रहें—बस, इसीमें बाग-बाग हो जाता हूँ। परन्तु एक बार, एक क्षणके लिये भी चादरका पट हटाकर जब हृदयकी नग्न तस्वीरको देखता हूँ, अपनी त्रुटियां, पापों, अपराधों और दुराचारोंको देखता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे नारकीय जीवनसे तो जीवनका न रहना ही श्रेयस्कर है। परन्तु इस जीवका मोह भी तो बहुत प्रगाढ़ है और इसी मोहमें ही इस जीवनकी लहर चल रही है!

जबतक वृत्ति बहिर्मुखी रहती है, मन संसारकी प्रशंसापर अपनेको तौलता है, तबतक तो सुख-ही-सुख है; परन्तु हाय! जब अपने भीतरके संसारको देखता हूँ, जब अपनी पतनशील वृत्तियोंपर दृष्टि डालता हूँ तो लज्जा और ग्लानिमें गड़ जाता हूँ। दुनियाको भले ही धोखा दे सकूँ परन्तु अपने अन्तर्यामी प्रभुकी आँखोंमें कैसे धूल झोंक सकूँगा? देखता हूँ, प्रभुजीके देखते-देखते घोर-से-घोर जघन्य पाप करते सकुचाता नहीं। पापका भूत जब सिरपर सवार हो जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह ईश्वर-को ही निगल गया, परमात्माको ही पचा गया। पापके अन्धकारमें प्रभुका प्रकाश कहाँ विलीन हो जाता है? लीलामय! पापके हाथ सौंपकर कहाँ छिप जाते हो? छिप जानेपर भी हृदयमें यह दृढ़ निश्चय क्यों नहीं करा जाते कि तुम छिपकर हमारी सारी करतूत देख रहे हो। प्रभो! पाप करते समय तो तुम्हारे

अस्तित्वतकका भान नहीं। पापोंके नरकमें छोड़कर तुम कहाँ चले जाते हो ? कलंकका टीका सिरपर लगाकर अब तो तुम्हारे सम्मुख आनेमें भी लज्जा लगती है ! जो कुछ चोरी-चुप्पे लुक-छिपकर मैंने किया है वह सब तुम्हारी आँखोंके सामने हुआ, तुम्हारे देखते हुए ही हुआ—जब यह स्मरण होता है तो कट जाता हूँ, ग्लानिमें डूब जाता हूँ। क्षमा भी कैसे माँगूँ, कौन-सा मुँह लेकर तुम्हारे सम्मुख आऊँ ?

> का मुख लै बिनती करौं, लाज लगत है मोहि।
> तोहि देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहि॥

जिस दिन तुम्हारी सत्तामें विश्वास हो जायगा, जिस क्षण तुम्हारी सर्वान्तर्यामी शक्तिमें हृदय जम जायगा—उसी क्षण पापोंसे पिण्ड छूट जायगा, यह मैं जानता हूँ और इसीलिये तो आत्मामें कोटि-कोटि वृश्चिक-दंशनकी पीड़ा होती है कि मैंने विषयोंकी सेवामें परमात्माका ही विस्मरण कर दिया। हृदयकी स्वाभाविक गति, मनकी वास्तविक दौड़ विषयोंकी ओर है। विषयोंके सेवनमें ही अमृत-रस मिलता है ! तुम्हारी ओर तो मुँह मोड़नेकी भी इच्छा नहीं होती। घड़ी-आध-घड़ी संसारको भुलावेमें डालनेके लिये, जब आँख मूँदकर तुम्हारे चिन्तन-ध्यानमें लगता हूँ तो उसी समय—मानो पहलेहीसे कोई षड्यन्त्र रचा गया हो—संसारके सारे झमेले, सारे विषय और विकार एक साथ ही सामने खड़े हो जाते हैं। हाथ जोड़ता हूँ, अनुनय-विनय करता हूँ,

निहोरा करता हूँ कि मुझे कम-से-कम घड़ी-आध-घड़ीके लिये छोड़ दो, फिर तो तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा है ही, परन्तु कौन मानता है और वे घर दबोचते हैं मेरे इस विषयानुरक्त हृदयको। मन भी इस विषय-सुखमें माता-माता फिरता है। कभी तृप्ति नहीं होती, विषयोंसे कभी जी नहीं भरता; ऐसे और वैसे बराबर लगा ही रहता है। एक-न-एक इच्छा रह ही जाती है। भला घीसे कहीं अग्निकी तृप्ति हो जायगी और वह कह देगी कि अब नहीं चाहिये—

बुझै न काम-अगिन 'तुलसी' कहुँ विषय-भोग बहु घीते।

धुएँका धौरहर यह विश्व हमारे विश्वास और भरोसेका आधार बन गया है। नादान मन मृगमरीचिकासे प्यास बुझाना चाहता है। सोचता है खूब संसारको भोग लूँ परन्तु वह संसारको क्या भोगेगा, संसार ही उसको भोग रहा है। संसार हमारे भोगकी वस्तु नहीं है, हम ही संसारके भोगकी वस्तु हैं। स्त्री है तो धन नहीं, धन है तो पुत्र नहीं, पुत्र है तो स्वास्थ्य नहीं, यह है तो वह नहीं—चारों खूँट बराबर कोई नहीं मिला। कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि बिछावन बिछाकर निश्चिन्त एक घड़ी भी सो लें—रातभर बिछावन डासनेमें ही बीता, कभी सुखसे नींदभर सोनेको नहीं मिला, कभी हाय-हाय बंद नहीं हुआ—

डासत ही सब निसा सिरानी कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।

इस असार संसारके इस दुःखपूर्ण अनित्य रूपको देखता हूँ फिर भी इसकी ओरसे ललक मिटती नहीं। 'कुछ और' की

कामना बनी ही रहती है । दुःख भोगता रहता हूँ, विषयोंमें आकण्ठ डूबा हुआ हूँ, पापोंमें सर्वथा निरत हूँ । बस, इसी आशामें कि भविष्यके गर्भमें सुखका उदय होगा और मैं छककर उसे भोगूँगा । वह सुनहला भविष्य, वह लुभावना सम्मोहन भोग, पता नहीं, कहाँ छिपा हुआ है जिसके प्रतीक्षा-पथमें हृदय बिछा दिया है । मृत्यु, जरा, रोग, अभाव, आपदा, विद्वेष, कलह, अशान्तिके इस लीला-स्थलमें कितने आये—सुखकी खोजमें जमीन-आसमाँ एक करके भी न पा सके और हाय-हाय करके हाथ मलते हुए चले गये । जीवनके अन्तिम क्षणमें पुत्र-कलत्र, महल-अटारियोंसे घिरे होनेपर भी जब उनकी आँखें सदाके लिये बंद होनेके पूर्व एक बार खुलीं तो उसमें हाहाकार और चीत्कार-के ही भीषण दृश्य दिखलायी दिये । संसारमें सर्वत्र निराशा, उपेक्षा और विश्वासघातके ही चित्र दिखे । मृत्युकी देहरीपर पैर रखते समय मनुष्य जब जीवनके घोर कोलाहलमय श्मशानको देखता है तो उसे पता चलता है कि सारा जीवन व्यर्थ ही गँवाया, वस्तुतः न कोई सच्चा साथी है न संगी । उस समय मनमें अपने कियेपर बड़ा ही पछतावा होता है—

मनकी मनही माँहि रही ।
ना हरि भजे न तीरथ सेये चोटी काल गही ॥

यह सब देखता हूँ, फिर भी आँखें खुलती ही नहीं, हृदयका कपाट कभी खुलता ही नहीं । विषयोंसे ऐसा चिपटा हुआ हूँ कि

कभी दूसरी ओर देखनेका न अवकाश ही है न चिन्ता ही—बस, रात-दिन एक ही धुन ! एक ही व्रत !!

हृदयका दर्पण निर्मल हो और वह प्रभुकी ओर मुँह किये हो, तभी तो प्रभुजीकी छवि उसमें उतर सकती है, तभी तो 'जीवन-धन' की झाँकी हृदयके मन्दिरमें मिल सकती है । सो तो तुम सब कुछ जानते ही हो कि यहाँ हृदयकी कैसी कुटिल गति है । ऐसा भी तो नहीं होता कि अपने पापोंकी पोटको लेकर तुम्हारे चरणोंमें गिरूँ—अपने सारे कलङ्क-दोषको लिये-दिये आतुर-विह्वल होकर तुम्हारे पाद-पद्मोंपर आर्त्त होकर पड़ जाऊँ । एक क्षणके लिये भी तो तुम्हारी ओर मुँह न कर पाया । एक पलके लिये भी छल छोड़कर, निष्कपटभावसे अपने स्वामी, अपने प्राणाधारकी शरणमें नहीं गया । तुम तो बार-बार मेरे पथमें मुझे उबारनेके लिये आ जाते हो, परन्तु मैं राह काटकर मुख फेर लेता हूँ । बार-बार मनको समझाता हूँ, ढाढ़स देता हूँ—रे मन ! प्रभुजीके चरणोंकी शरणमें चल, रात-दिन संसारके हाहाकारको देखता रहता है फिर भी इससे इतना चिपटा है कि एक क्षण भी छोड़ना नहीं चाहता । उस समय तो ऐसा प्रतीत होता है कि मन मान गया, और अब विषयोंकी ओर नहीं जायगा—परन्तु जहाँ मौका लगा कि चट····

मेरो मन हरिजू हठ न तजै ।
निसदिन नाथ देउँ सिख बहु विधि करत सुभाव निजै ॥

और अब संसार-सागरमें—

नीर अति गंभीर माया लोभ लहर तिरंग।
लिये जात अगाध जलमें गहे ग्राह अनंग॥
मीन इंद्रिय अतिहि काटति मोट अघ सिर भार।
पग न इत-उत धरन पावत उरझि मोह सिवार॥
काम क्रोध समेत तृस्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर॥
थक्यो बीच बिहाल बिहवल सुनो करुनामूल।
स्याम ! भुज गहि काढ़ि लीजै 'सूर' ब्रजके कूल॥

अथाह जल है, माया, लोभ, मोहकी तिहरी लहरें आकाशको चूम रही हैं—कामरूपी ग्राह पकड़े, खींचे लिये जा रहा है। इन्द्रियाँरूपी मछलियाँ जोरसे काट रही हैं और सिरपर पापकी भारी गठरी है। मोहका सिवार पैरमें उलझकर मुझे आगे बढ़ने नहीं देता ! काम, क्रोध और तृष्णाकी भयङ्कर आँधी झकझोर रही है। पुत्र-कलत्र प्रभुके नामरूपी नौकाकी ओर देखनेका अवसर ही नहीं देते। हे प्रभो ! मैं इस अथाह सागरके बीचमें ही बिहाल-विह्वल हूँ। अब डूबा, तब डूबा। तुम करुणाके मूल हो, हाथ बढ़ाकर इस अथाह सागरमें डूबनेसे मुझे बचा लो !

अब न द्रवहु केहि लेखे ?

एक वार भी तो मेरी ओर निहारो, कुछ भी तो वोलो ! मैं कैसे समझूँ देव तुम्हारा क्या संकेत है, मेरे लिये तुम्हारी क्या आज्ञा है । कैसे जानूँ तुम मुझसे क्या कराना चाहते हो । मुझे क्या पता तुमने मुझे यहाँ क्यों भेजा है ? जवतक तुमसे परिचय नहीं था, जवतक तुम्हें न जाना था तवतक तो कोई वात न थी । रास्ता रोककर, वलात् हठपूर्वक तुम मेरे जीवनपथमें आये, मेरी सारी अल्हड़ता और नादानीपर मुसकराहटकी वर्षा करते हुए आये; मेरे अवोध हृदयमें अपनी मोहिनी डालकर अपने आकुल स्पर्शसे मुझे नहला दिया, मेरे रोम-रोम उस स्पर्शजन्य आनन्दमें भींग गये । अर्धचेतन, स्पर्श-विस्मृत दशामें तुमने मेरी

बाँह पकड़ ली; मेरे सिरको अपनी छातीमें छिपा लिया और मेरे सारे शरीरको अपने सुकुमार वरद करोंसे सहलाया। मेरे जन्म-जन्मके पुण्य उदय हुए—तुम्हारे दर्शन हुए।

उस अचेतनाकी स्मृतिमात्र आज हृदयके कोने-कोनेमें छायी हुई है। उस क्षणका स्मरणमात्र भीतर बना हुआ है। उस स्पर्श-की हलकी सिहरन भर रह गयी है। बड़ी व्याकुलता और आतुर उत्कण्ठासे अपने भीतर डूबकर तुम्हें पकड़ना चाहता हूँ, तुम्हें बाँध लेना चाहता हूँ, ऐसा कभी-कभी बोध भी होता है कि बाहुपाशमें तुम आ गये पर............न पूछो, तुम्हारा ही छल तुमसे कैसे कहूँ। यह तरसाना भी कैसे कहा जाय! जहाँ प्राणोंमें हाहाकार है, अतृप्त उत्कट लालसा है वहाँ परिछाँईके भी दर्शन न हों—यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है!

यह सम्बन्ध भी तो नाथ! तुम्हारा ही स्थापित किया हुआ है। तुम्हारी ओर दृष्टि जाते ही समग्र चेतना, समग्र शिराओंने एक स्वरसे कहा यही—यही हमारी माँ है, यही हमारा 'स्वामी' है, यही हमारा 'सब कुछ' है। तुम्हीं मेरी माँ, प्राणप्यारी माँ; तुम्हीं मेरे पिता प्राणप्यारे, पिता; तुम्हीं मेरे सुहृद्, अभिन्न सुहृद्; तुम्हीं मेरे स्वामी, रोम-रोमके, श्वास-श्वासके, जन्म-जन्मके स्वामी—तुम्हीं मेरे प्राण-वल्लभ, जीवनधन, हृदयसर्वस्व हो—सब कुछ हो—तुम्हारे चरणोंको छोड़कर अब मैं कहाँ जाऊँ, और किसकी ओर निहारूँ? मैं तो तुम्हारी ही, एकमात्र तुम्हारी ही लाज हूँ! संसारकी आँखें मेरे नग्नरूपपर पड़ें यह तुम कैसे सह सकोगे प्राण!

तुम्हारे देखते-देखते संसार मेरे भीतर पैठकर नग्न ताण्डव कर रहा है, मेरा चीर लूट रहा है—यह कैसे विश्वास करूँ। संसारके हाथों मैं हरा जा रहा हूँ यह तो प्रतिपल देख ही रहा हूँ! वासनाकी आँधी आती है और मुझे उड़ा ले जाती है। भीतर मनमें ऐसे-ऐसे जघन्य पाप घट रहे हैं कि इच्छा होती है तुमसे मुँह छिपा लूँ। पर मुँह छिपाकर कहाँ जाऊँगा? चारों ओरसे तो तुम्हीं घेरे खड़े हो! तो फिर क्या यह मान लूँ कि तुम मेरी ओर देख ही नहीं रहे हो, क्या यह समझ लूँ कि मेरी पतवार तुमने छोड़ दी है और मेरी नाव लहरोंकी मौज और प्रवाहपर बही जा रही है! परन्तु तुम तो प्रणतपाल हो प्रभो! एक वार भी जिसे अपनाया सदाके लिये उसे 'अपना' बना लिया। तुम मेरी बाँह कैसे छोड़ोगे? मेरी नाव क्यों बहने दोगे? अरे—मैं और मेरी नाव—यह सब कुछ तो तुम्हारे करुणा-सागरमें ही तैर रहे हैं। तुम्हारी गोदमें ही सारी सृष्टि, अनन्त ब्रह्माण्ड नन्हे-नन्हे बच्चोंकी भाँति खेल रहे हैं! समस्त चराचर तुम्हारी अपनी सन्तान है इन्हें बिलखने क्यों दोगे? समस्त प्राणी तुम्हारे उद्यानके पुष्प हैं इन्हें मुरझाने क्यों दोगे?

प्रतिपल, प्रतिक्षण तुम मेरी ओर देख रहे हो; मैं तुम्हारी आँख बचाकर मुँह फेर लेता हूँ। पापोंसे इतनी प्रगाढ़ मैत्री मेरी क्यों हो गयी प्रभो! उनमें इतनी आसक्ति क्यों हो गयी कि उनसे एक क्षणका भी वियोग असह्य और दारुण हो उठता है! हाँ,

मुँह फेरकर, आँखें बचाकर फिर ज्यों ही पाप-पङ्कमें डूबनेके लिये आमादा होता हूँ कि त्यों ही तुम्हारी मञ्जुल मङ्गल मनोहर मूर्ति सामने हँसती हुई आ जाती है ! मैं लजा जाता हूँ, अरे 'वह' देख रहा था ! पर सच मानो यह भाव एक क्षण भी ठहर नहीं पाता कि पुनः वासनाओंके लुभावने-ललचीले बाजार सामने अपनी माया पसार देते हैं और मैं पुनः अतृप्त भावसे उनमें रमने लगता हूँ !

यही चित्तकी स्थिति है, यही हृदयका चित्र है, यही भीतरका संसार है । तुम भी हो विषय भी हैं, आग भी है पानी भी ! प्रकाश भी है अन्धकार भी ! यह भी स्वीकार करनेमें संकोच नहीं कि तुम्हारी अपेक्षा संसारका ही प्रभुत्व अधिक है, प्रकाशकी अपेक्षा तमतोमका ही साम्राज्य अधिक है । तुम्हारे रहते, तुम्हारे देखते यह दशा है यह और भी लज्जाकी बात है ।

मम हृदय भवन प्रभु तोरा । तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥
अति कठिन करहिं बरजोरा । मानहिं नहिं बिनय निहोरा ॥
तम, मोह, लोभ, अहंकारा । मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा ॥
अति करहिं उपद्रव नाथा । मरदहिं मोहि जानि अनाथा ॥
मैं एक, अमित बटपारा । कोउ सुनै न मोर पुकारा ॥
भागेहु नहि नाथ ! उबारा । रघुनायक, करहु सँभारा ॥

मेरा हृदय तुम्हारा मन्दिर है, उसमें चोरोंने घर कर रक्खा है । बड़ा उत्पात मचा रहे हैं ! सदा जबरदस्ती ही करते रहते हैं ।

मेरी विनती-निहोरा कुछ भी नहीं मानते। लाख मिन्नतें करता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ कि मेरा पल्ला छोड़ दो, पर वे एक भी नहीं सुनते! अज्ञान, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध और काम— ये सब प्रबल हैं और मनमानी कर रहे हैं। मुझे अनाथ जानकर कुचले डालते हैं। मैं सर्वथा अकेला हूँ और ये शत्रु अपार हैं। कोई मेरी पुकारतक नहीं सुनता। भागकर भी इनसे पिण्ड नहीं छुड़ाया जा सकता! ये सदा-सदैव मेरे पीछे लगे ही रहते हैं। प्रभो! दीनबन्धु! मेरी रक्षा करो, इनसे मुझे बचाओ, नहीं तो मैं लुटा, मेरा सर्वस्व गया!

बंदौं सबहिं रामके नाते

विश्वकी विविध विषमताओंमें एक परम रहस्यकी अद्भुत लीला चरितार्थ हो रही है। जीवनके चढ़ाव और उतारमें एक प्रच्छन्न प्रवाह अबाध गतिसे बहता चला जा रहा है। सुख और दुःखके मूलमें बसनेवाली अन्तर्धाराको बाह्य विषमता स्पर्शतक नहीं कर सकती। जीवन और मृत्युको प्रेरित करनेवाली मानव-हृदयकी अन्तर्ज्योतिको जगत्का निखिल अन्धकार प्रभावित नहीं कर सकता। इस विविधरस विश्वकी तहमें 'एकरस' ही निरन्तर प्रवाहित हो रहा है, जहाँ जीवनकी जटिलता, विषमता तथा विरोध पहुँच नहीं पाते। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षि कवियोंने इसी

ज्ञानकी मूल आभ्यन्तरिक ज्योति, हृदयकी अन्तर्धारा तथा परदेके भीतरकी एक अनुपम छविके आलोकपर बेसुध होकर प्राणोंका उपहार लुटाया था। वाल्मीकि और व्यासने, तुलसी तथा सूरने, गेटे तथा होमरने, शेक्सपियर तथा शेलीने, नहीं-नहीं, विश्वके सभी अमर कवियोंने 'भीतर' पैठकर 'रस' का पान किया था और इसी आत्मोन्मादके व्यतिरेकमें बेसुध हो, जीवन और मृत्युके ऊपर उठकर आनन्दकी वंशी फूँकी थी। इस आनन्दप्रवाहके एक बूँदसे विश्वकी आतुर पिपासा शान्त हो गयी, इस अतुल छविकी एक झाँकीसे जगत्की तृषित आँखें जुड़ा गयीं।

विश्वके इस विराट् अभिनयका एक ही नायक है। जगत्के इस नाना नाम और रूपोंमें एक ही नाम और एक ही रूप है! दुनियाके इन असीम स्वप्नोंकी तहमें एक ही सत्य है, एक ही चिरन्तन प्रवाह है! विश्वके यावत् पदार्थ 'उसी' के स्पर्शके लिये व्याकुल हैं, लालायित हैं, और सभी वस्तु 'उसी' एक परम वस्तुके साथ सम्बन्ध चरितार्थ कर रही हैं। विश्वको असत्य, प्रवञ्चना, अविवेकादिपूर्ण मानकर इसके प्रति विरक्ति उत्पन्न करना संशयवाद (Scepticism) हीके नामसे पुकारा जायगा। परमात्माको विश्वकी विविध लीलाओंसे परे मानकर तथा इस जगत्को परमात्मासे रहित मानकर ज्ञान और विवेककी शुष्क खोजमें जीवन भले ही खपा दिया जाय परन्तु उस शुष्कतामें मानव-हृदयको रुचिर शान्ति और अतुल आनन्द तथा उत्फुल्लताका आभास भी नहीं मिल सकता! घृणा, विरक्ति तथा उदासीनता किससे करें? इस

'मिथ्या' जगत्से ? अपना 'घर' छोड़ देनेपर परमात्माका घर कहाँ मिल सकता है ? क्या अपने ही घरको 'उस' का घर बनाकर उसीके दिव्य आलोकसे अपने अन्धकारपूर्ण अन्तस्तलको आलोकित न कर लें ? विश्वनाटकके अधिनायककी निखिल लीलासे आँखें मूँदकर 'उसे' हम कहाँ देख सकते हैं ?

चराचरकी सारी वस्तुएँ केन्द्रोन्मुख हो उसी 'एक' में लय होना चाहती हैं, अपने अन्तरमें उसी 'एक' के स्पर्शके लिये व्याकुल हैं। हमारे मनीषी, परिभूः स्वयम्भू कवियोंने सृष्टिकी इस 'व्याकुलता', इस 'पिपासा', इस आन्तरिक 'क्षुधा'को अपने भीतर अनुभव किया और सभी वस्तुओंमें उसी एक लीलामयकी अद्भुत अपार लीला देखी। उनका जीवन साधना एवं चिन्तनकी लीला-भूमि था। वे अपने भीतर विश्वको तथा विश्वके भीतर अपनेको देखना जानते थे। इस रहस्यके मूलमें बसनेवाले सनातन सम्बन्ध (eternal contact) को उन्होंने भलीभाँति देखा एवं सुना और इस लीलामाधुरीपर अपनेको न्योछावर कर दिया, आत्मविस्मृत हो निराकारमें अपने साकार स्वरूपको लय कर दिया !

जिस प्रकार इस विराट् विश्वके रंगमञ्चका नायक एक सर्व-व्यापी परमात्मा है, उसी प्रकार रामायणरूपी नाटकके नायक भगवान् रामचन्द्र हैं और जिस भाँति विश्वके यावत् पदार्थ उसी 'एक' से अपना सम्बन्ध चरितार्थ कर रहे हैं उसी भाँति रामायण-में आये हुए सभी पात्रोंका सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार रामचन्द्र-से है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहकर कवि या

भक्तको शान्ति नहीं मिलती; वह तो मन और वचनसे अगम्य उस परम रूपको भी अपनी कल्पनासे चित्रित कर ही डालता है और विश्वको इस रूपकी सुषमामें अपार शान्ति तथा अतुल आनन्द मिलता है। विश्व अपनी सुन्दरताके कारण आकर्षक नहीं है प्रत्युत इसलिये है कि इसकी सुन्दरतामें एक अव्यक्त परम रूपकी सुन्दरता प्रतिभासित हो रही है। इसकी क्षणभङ्गुरताके परदेमें अमरत्वकी मधुर क्रीड़ा हो रही है। एक वार परदा उठाइये– आँखें अघा जायँगी उस छविको देखकर! 'घूँघटका पट' खोल देनेपर आकर्षणकी वारुणी किसे नहीं मोह लेती! परदे तरकी सुन्दरीको देख लेनेपर विश्वकी सारी शोभा फीकी मालूम होने लगती है; जिन नयनोंमें वह 'छवि' वसती है वहाँसे और छवि लज्जित तथा कुण्ठित हो सिहर-सिहर अपने वाणोंको समेटने लगती है। उस मस्तीमें, उस उन्मादमें जो आनन्द है, जो उल्लास है उसे दुनिया क्या समझ सकती है? एक वार उस 'रस' की एक घूँट पी लेनेपर जन्मजन्मान्तर खुमारी नहीं मिटती! इसके वाद नीरस-जैसी कोई चीज ही नहीं रह जाती–एक रस, एक राग, एक तान, एक रूप!

यह जगत् मिथ्या कैसे? यह तो 'सियाराममय' है, यह एक आर्ष कविता है, एक अनन्त संगीत है जिसकी माधुरी पीनेके लिये अपनेको गँवा देना होता है। इसकी कीमत देनेके लिये कितने तैयार हैं? अपनी दुनिया मिटाकर, अपनी सीमामय परिधिकी रेखाको मिटाकर इस विराट् मिलनमें जहाँ केवल 'सीता-

राम' ही हैं, सम्मिलित होनेके लिये कितने तैयार हैं ? दर्द-दीवानी मीराने इस रसको पीया था, कबीरने, सूरने और तुलसीने पीया था ! परन्तु तुलसीका रस बहुत ही मधुर है; सूरकी बेहोशी और मीराकी आत्मविस्मृति जनसाधारणकी पहुँचसे बाहरकी है, कबीरका ब्रह्मवाद बहुत ही कठिन है, पर तुलसीकी साधना, तन्मयता तथा अनुभूतिको हम सभी थोड़ा बहुत समझ सकते हैं और अपने जीवनको संयमके प्रवाहमें इस भाँति परिचालित कर सकते हैं, इस 'राजमार्ग' पर इतनी सुगमता और सुखसे चल सकते हैं कि 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति' में सन्देह होने लगता है। मीरा और सूर हमें इस पार्थिव आधारसे बहुत शीघ्र ऊपर उठाकर उस परमात्मभावमें लय कर देते हैं, जहाँ अनन्त शीतलता और अमर शान्ति है परन्तु उस उन्मादको जीवनमें उतारना जरा कठिन है। पर तुलसीदास हमारे हृदयको धीरे-धीरे उदार और उन्नत बनाते हुए 'रस' के उस महासागरमें हमारे क्षुद्र बिन्दुको सदाके लिये लय कर देते हैं—जहाँसे लौटनेकी कोई कल्पनातक नहीं कर सकता—जहाँ हमारा 'स्वार्थ' विश्वके कण-कणमें बिखर जाता है और सर्वत्र उसी एक रूपकी अपार शोभा देख हम आनन्दजनित उन्मादमें गा उठते हैं—

'वंदौं सबहिं रामके नाते'

आशिक होकर सोना क्या रे !

ऊँचे, बहुत ऊँचे पर्वत-शिखरपर प्रीतमकी अटारी है; ऊँची गैल है, राह रपटीली है, पैरोंमें जंजीर बँधी हुई है ! बीचमें यह संसार अपना भयानक रूप लेकर खड़ा है ! निर्जन अँधेरी रात है, सूना पथ है । तारोंका गजरा पहने यामिनी 'प्रीतम' की मधुभरी छविका स्मरण दिला रही है ! हमारे-तुम्हारे बीचमें यह 'संसार' आ पड़ा है. मिलना हो भी तो कैसे ?

> प्रीतम बसे पहाड़पर, मैं जमनाके तीर ।
> अब तो मिलना कठिन है, पाँव पड़ी जंजीर ॥

अपने 'सर्वस्व' से मिलनेके लिये प्राण तड़प रहे हैं, हृदय विकल है ! और बीचकी यह दूरी ! हाय ! यह तो मिटाये नहीं मिटती;

बीचका संसार तो प्रतिदिन अपने विस्तारको असीम बनाता जा रहा है और इसका थाह पाना कठिन ही नहीं, असम्भव प्रतीत होता है ! जहाँ एक पल भी कोटि-कोटि युगके समान बीत रहे हों, जहाँ बीचका 'हार' भी असह्य हो रहा है—वहाँ यह अनन्त विरह और अमर प्रतीक्षा !!

Ornaments would mar our Union: they would come between Thee and me; their jingling would drown Thy whispers.

'आभूषण हमारे-तुम्हारे मिलनमें बाधक सिद्ध होंगे। वे तुम्हारे और मेरे बीच आ जायँगे—उनकी झुनझुनाहटसे तुम्हारे धीमे शब्द सुन न पड़ेंगे।' इस स्थितिमें जब हार भी मिलनका बहुत असह्य अवरोधक दीखता है, और देखे बिना प्राणोंके लाले पड़े हैं—पता नहीं चलता, क्या किया जाय, क्या नहीं ?

यह तो तय है कि संसारको मिटाये बिना, जगत्को मारे बिना 'प्रीतम' के दर्शन नहीं हो सकते। जबतक आँखें खुलनेपर सामने संसार ही दीख पड़ता है तबतक तो समझ लेना चाहिये कि अभी हमारा 'प्रेम' सच्चा नहीं है। प्रेम तो हमारा तभी सच्चा और खरा समझा जायगा जब जहाँ भी, जिस समय भी आँखें खुलें या बन्द रहें सामने 'साजन' का ही मधुर रूप झलक उठे ! हमारा यह मिलन अविच्छिन्न और अनवरत हो तभी हमारी लगन लगन है। मजनूँ हर जगह अपनी प्राणप्यारी लैलाको ही देखा करता

था—उसके लिये लैलाके सिवा संसारमें कोई वस्तु थी ही नहीं। ठीक इसी प्रकार भक्त साधकके लिये भी 'प्राणनाथ' के अतिरिक्त कोई भी वस्तु है ही नहीं! वह तो जो कुछ जब कभी देखता है वह सब कुछ प्रभुमय होता है!

> प्रेम-प्रीतिकी चुनरि हमारी जब चाहौं तब नाचौं सहरवा।
> ताला-कुंजी हमैं गुरु दीनी जब चाहौं तब खोलौं किवरवा॥

अब तो जब आँखें बन्द होती हैं तो हृदयके 'रंगमहल' में और जब आँखें खुलती हैं तो समस्त संसारके वृन्दावनमें, बस 'प्राणवल्लभ-ही-प्राणवल्लभ' दीखते हैं! जब जीमें आया गर्दन झुकाकर दिलके आईनेमें दिलवर यारकी तस्वीर देख ली! परन्तु उसके पहलेकी स्थिति तो बड़ी ही असह्य और कठोर प्रतीत होती है; न प्राण ही निकलते हैं, न 'प्रीतम' के दर्शन ही होते हैं। इस असमञ्जसकी स्थितिके एक बहुत ही सुन्दर चित्रको देखिये—

> अजहुँ न निकसै प्रान कठोर!
> दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुंदर प्रीतम मोर॥
> चारि पहर चारौं युग बीते, रैनि गँवाई भोर।
> अवधि गई अजहूँ नहिं आये, कतहुँ रहे चितचोर॥
> कबहूँ नैन निरखि नहि देखे, मारग चितवत चोर।
> 'दादू' ऐसे आतुर बिरहिनि, जैसे चंद्र चकोर॥

जन्म-जन्मसे, युग-युगसे मैं तुम्हें ढूँढ़ता आया हूँ परन्तु हाय! बीचका पर्दा न हटा पाया और इसीलिये तुम्हारे दर्शन भी

न हो सके ! एक बार भी तो ऐसा नहीं हुआ कि भर-आँख अपने 'प्राणनाथ' को देख लेता; एक क्षणके लिये भी घूँघट उठाकर 'सैयाँ' की सलोनी सूरतको देख न पाया ! जिसमें मिटनेके लिये प्राण तड़प रहे हैं उसे काश एक बार देख पाता !! बड़ी विचित्र पहेली है । देखे बिना रहा जाता नहीं और देखनेमें आता नहीं—इसी असमञ्जसमें प्राण अँटके हैं । 'वह' तो 'शीशमहल' में बैठा-बैठा मेरी ओर देख रहा है परन्तु मेरी इन अभागिन आँखोंके लिये तो 'वह' 'पर्दानशीं' ही बना हुआ है—

> तू मोहिं देखै, तोहिं न देखूँ यह मति सब बुधि खोई ।
> सब घट अंतर रमसि निरंतर, मैं देखन नहिं जाना ।
> गुन सब तोर, मोर सब अवगुन कृत उपकार न माना ॥
> मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा ।
> कह रैदास कृष्ण करुनामय, जै जै जगत-अधारा ॥

यह गुत्थी भी तो 'उसे' ही सुलझानी है । मैं-मोर, तू-तोरका पर्दा तो उसके ही हटाये हटेगा भी । और जब यह गुत्थी सुलझ गयी तो फिर 'वही-वह' भीतर-बाहर एकरूपमें दीख पड़ेगा ! सब कुछ उसीमें और वही सब कुछमें । उस स्थितिको 'सब घट हौं विहरौं' द्वारा प्रकट किया गया है । परन्तु वस्तुतः वह स्थिति व्यक्त की नहीं जा सकती ! नमकका पुतला समुद्रका थाह लेने चला था स्वयं उसीमें हिरा गया—

> हेरत-हेरत हे सखी ! मैं ही गई हिराय ।

तथा—

लाली मेरे लालकी जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

और साईंकी लालीमें स्वयं लाल हो चुकनेपर तो कोई भी साधक वही कहेगा जो गुरु नानकने कहा है—

काहे रे बन खोजन जाई।
सर्व-निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई॥
पुष्प-मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुरमाँहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसैं निरंतर, घट ही खोजो भाई॥
बाहर भीतर एकै जानो, यह गुरु ज्ञान बताई।
जन 'नानक' बिन आपा चीन्हें, मिटै न भ्रमकी काई॥

उस समय तो यह समस्त संसार एक स्वच्छ निर्मल दर्पण-की भाँति दीखेगा जिसमें प्रभुजीकी मधुर परिछाहीं सर्वत्र दीखेगी—उस समय तो समस्त विश्व एक सुगन्धित पुष्पके समान प्रतीत होगा जिसकी खुशबूसे समस्त चराचर मँह-मँह करता दृष्टिगोचर होगा! समस्त विश्व एक 'शीशमहल' के समान है, बीचमें एक दिव्य प्रकाश है, जिसके कारण समस्त विश्व जगमग-जगमग कर रहा है!

कन्याका गुड़ियोंका खेल तभीतक चलता है जबतक 'प्रीतम' के दर्शन नहीं हुए होते। विवाह होते ही वह गुड़ियोंके लिये और गुड़िया उसके लिये अपरिचित हो जाती है! जबतक असली पतिसे मिलना नहीं होता तभीतक नकली 'बेटा-बेटी' का खेल

चलता है। माँगमें सिन्दूर पड़ा और 'ग्रन्थि-बन्धन' हुआ कि गुड़ियोंका खेल बिसर जाता है। यह खेल जो सारे जीवनको अपने रसमें डुबो देता है। यह 'ग्रन्थि-बन्धन' ही जीवनकी सब पहेलियों, जीवनके समस्त व्यापारोंकी एकमात्र प्रक्रिया है ! इसके बाद तो नौका अपना रास्ता पकड़ लेती है !

ठीक इसी प्रकार जब हमारा 'ग्रन्थि-बन्धन' हमारे प्रीतमके साथ हो जाता है तो संसारके अन्य व्यापार गुड़ियेके खेलकी भाँति नीरस प्रतीत होने लगते हैं। साईंका जब दर्शन हो जाता है तो फिर इन खेलोंमें आनन्द या आसक्ति कौन कहे, इनकी स्मृति भी नहीं रहती और उस समय तो बस—

प्रीतम छबि नैनन बसी, औ छबि कहाँ समाय

आँखोंमें, हृदयमें, प्राणमें, रोम-रोममें बस प्रीतमकी ही छबि, प्रीतमकी ही धुन छायी रहती है। उस समय संसार बस अपने साजन 'हरि' की परछाहींके रूपमें ही रह जाता है—संसारका 'संसारत्व' मिट जाता है, अपने 'राम' के नाते सभी कुछ सुहावना प्रतीत होने लगता है। सतीके समान प्रभुमें अचल प्रेम हो जाता है और सब कुछ बस 'सियाराममय' हो जाता है। संसारको मारने, जगत्को मिटानेका सबसे यही सुन्दर तरीका है कि सब कुछ भगवान्में समर्पित कर दिया जाय, सबका सम्बन्ध 'हरि' से जोड़ दिया जाय ! उस समय संसार नहीं रहता, केवल 'हरि' रह जाते हैं !

यह न द्वैत है न अद्वैत ! पत्नीके सम्मुख पति द्वैत और अद्वैतसे परेका आनन्द लेकर आता है। उसमें द्वैतका आनन्द और अद्वैतकी विरति धूप-छाँहकी भाँति घुली-मिली रहती है। पत्नीका कोई निजी व्यक्तित्व नहीं होता, वह पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बन जाती है, उसीमें विलय हो जाती है; इस अर्थमें तो वह अद्वैत है। परन्तु पत्नीका धर्म पतिको सुख पहुँचाना, उसके सुख-सम्भोगको पूरा करना भी तो है, इस अर्थमें वह द्वैत है। इसे द्वैतकी अद्वैतता और अद्वैतकी द्वैतता कह सकते हैं !

प्राणनाथसे जब हम इस प्रकार जुड़ गये, जब उनके चरणोंमें सर्वभावेन अपनेको समर्पित कर दिया तो फिर अपने सुख-दुःखकी, अपने सुख-भोगकी, अपने आपकी चिन्ता ही क्यों रह जाय ? उस समय तो बस 'प्रीतमकी अटारी' पर पौढ़नेकी ही एकमात्र कामना रहती है। उस समय बस जीवनधनके नाते ही संसारका चरखा भी खुशी-खुशी चलाना होता है। पत्नी करती तो है सब कुछ, खाती-पीती है, सोती-जागती है, वस्त्राभूषण पहनती है, शृंगार करती है परन्तु सब कुछ 'जीवन-धन' के लिये। उसे संसारके सभी नाते इसलिये प्रिय हैं कि उनसे उसके 'हृदयेश्वर' का सम्बन्ध है। वह पतिमें इतना अधिक रम जाती है कि उसे अपने मायकेका खयाल भी नहीं रहता और जब मायकेकी बुलाहट आती है तो हृदयपर पत्थर रखकर ही पति-गृहसे जाती है; इसलिये कि संसार उसे न हँसे। उसकी आसक्ति तो समर्पणकी महावह्निमें तपकर पवित्र और मधुर हो ही जाती है क्योंकि ऐसी आसक्तिका

आधार भी तो वही है जो उसके लोक-परलोक, जन्म-जन्मान्तरका साथी है, 'प्राण' है, सर्वस्व है !!

जबतक हम अपने 'देवता' को सर्वतोभावेन प्राप्त नहीं कर लेते तबतक एक-एक पल एक-एक युगके समान बीतता है ! एक क्षणका भी वियोग सहा नहीं जाता और बीचमें यह संसार अपना प्रतिरोधका ज्वालामुखी लिये खड़ा है। संसार मिटाये भी तो मिटता नहीं। मिटानेका तो बस, एक ही साधन है और वह है सर्वत्र अनन्य भावसे अपने 'हरि' का ही अधिरोप हो जाय ! उसमें संसारका नानात्व मिट जाता है और जीवनके प्रत्येक पल और प्रत्येक स्थानमें ही 'मिलन-मन्दिर' का द्वार खुला हुआ मिलता है। ऐसे ही साधकोंके लिये कबीरसाहबने कहा है—

आशिक होकर सोना क्या रे !

मेरे जनम-मरणके साथी !

इस लुका-छिपीमें, इस धूप-छाँहमें ओ मायावी ! ओ चतुर खिलाड़ी ! मेरे प्राणोंके साथ कैसे-कैसे खेल खेला करते हो ! यह तुम्हारी ललित लीला, यह तुम्हारी मोहिनी माया मुझे एक क्षण भी विराम नहीं लेने देती ! आते हो, अचानक, चुप-चाप, नीरव निशीथमें पैरोंकी चाप छुपाये, पैंजनीकी रुमझुम दवाये, मुरलीका स्वर और किंकिणीका क्वणन समेटे, आते हो; धीरेसे, चुपकेसे मेरे प्राणोंको छू देते हो—उस स्पर्शमें मेरे रोम-रोम जग जाते हैं, अन्तरमें सोई हुई चिरन्तन लालसा जग पड़ती है, हृदयका रेशा-रेशा उस कोमल-मधुर आर्द्र शीतल अमृत स्पर्शमें सिहर उठता है—अतल प्राणोंमें तुम्हारे स्पर्शकी लहरसे उद्भूत

एक विचित्र सुखानुभूति होने लगती है—ऐसा मानो मैं तुम्हें अपने आलिङ्गनमें बाँधे हुए हूँ–तुम मुझे अपने आलिङ्गनमें बाँधे हुए हो !! पिय ! वह सुख, वह स्पर्श, वह आनन्द !

आँखें खुलती हैं, रोम-रोम खुलते हैं, प्राण-प्राण खुलते हैं, हृदयका कपाट खुलता है, श्वास-श्वासके द्वार खुल पड़ते हैं अपने इस अनोखे अतिथि, प्राणेश्वर, जीवन-वल्लभके स्वागतके लिये ! चिर अभिवाञ्छित साधके कण-कणमें हरि ! हरि ! का आवाहन सुनायी पड़ने लगता है; अब क्या ? मेरे जन्म-जन्मकी लालसा पूरी हुई, प्रभुने स्वयं दयाकर अपने दर्शन और स्पर्शसे मुझे निहाल कर दिया ! वे कितने अकारण दयालु हैं कि स्वयं इस अँधेरी अर्धरात्रिमें घने बीहड़ वन और काँटोंका पथ तय कर, इस सुनसान रजनीमें मुझ अपात्रको अपनानेके लिये आये और आज पहलेकी भाँति आकर चले नहीं गये अपितु मुझे अपने मधुर स्पर्शका सुख भी दिया !

ऐसे पिये जान न दीजै हो ।
चलो री सखी ! मिल राखिये, नैननि रस पीजै हो ।
स्याम सलोनो साँवरो मुख देखत जीजै हो ॥
जोइ जोइ भेषसो हरि मिलैं सोइ सोइ कीजै हो ।
मीराके प्रभु गिरधर नागर बड़भागन रीजै हो ॥

हृदय हिलोरें ले रहा है, प्राण बेसुध-से हैं । मन माता-माता फिरता है । रोम-रोम नहा रहे हैं इस अमृतवर्षामें । इस जगतीमें तुम्हारे सिवा कुछ रहा ही नहीं । कण-कणमें तुम्हारी छवि छलकती

हुई इठला रही है। धरती धन्य हुई तुम्हारे स्निग्ध कोमल चारु-चरणोंके परम पावन स्पर्शसे ! आकाश धन्य हुआ अपने हृदयमें तुम्हारी परछाहींकी श्यामल आभा पाकर। वायु धन्य हुआ तुम्हारी आरती उतारकर। समुद्र धन्य हुआ तुम्हारे चरणोंको पखारकर ! आज वसुन्धरामें एक अद्भुत उल्लास छा रहा है—सभी मानो तुम्हारे आगमन और दिव्य स्पर्शके सुखसे वेसँभार होकर, मतवाले-से नाच रहे हैं। आनन्द हृदयमें समा नहीं रहा है, इसे बाँटनेकी इच्छा होती है, पर वाणी स्वयं उस अमृतमें छकी हुई है, कुछ कहना नहीं चाहती ! समस्त चराचर अपने प्राणेश्वरको पाकर उसके मधु आलिङ्गनमें डूबा हुआ है ! किसीसे कोई क्या कहे, क्या सुने !

चरचा करी कैसे जाय।
बात जानत कछुक हमसों, कहत जिय थहराय॥

रे मन ! रे प्राण ! हृदय ! नयन ! पीओ, पीओ, इस अमृत-सिन्धुमें डूबो, डूब जाओ ऐ हृदय; ऐ आँखें अपने स्वामीको देखो ! देखते-देखते ऐसा देख लो कि फिर कुछ देखनेको रह ही नहीं। जन्म-जन्मकी साध ! आज अपना भाग्य सराहो, आज प्रभुके चरणतलमें लोटो ! आज तुम धन्य हो गयी ! ओ मेरे प्राणोंकी चिरविकल प्यास ! तुम्हीं तो ढूँढ़ लायी हो इस अपरूप रूपको, इस मधुर मनोहर श्यामसुन्दरको ! अह ! प्रभुके चरणनख-की विद्युत्-द्युतिने मेरे अन्तस्को आलोकित कर दिया है, जगमग कर दिया है ! यह प्रकाश ! यह शोभा !! यह आनन्द !!!

मेरे जनम-मरणके साथी !

प्रभो ! मैं यह क्या देख रहा हूँ ? क्या मैं यह स्वप्न देख रहा हूँ; क्या यह कल्पनाका लोक है ? प्यारे, मेरे जीवनधन ! आज तो तुम संसारसे भी अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहे हो; संसार तो मानो तुम्हारे आलोकमें विस्मित, तुम्हारे रूपपर विमुग्ध तुम्हारे चरणोंके नीचे लोट रहा है । संसारके मस्तकपर चरण रखकर तुम आये हो देव ! और मुझे भी अपनी गोदमें ऊपर उठा रहे हो । मुझे भी उठा लोगे प्रभु ! अरे ! इस संसारकी क्या हस्ती कि मुझे छू भी सके ! मैं तो हरिकी गोदमें हूँ, हरिने मुझे अपने हृदयमें छिपा रखा है । मैं अपनी दयामयी जननी माँ कृष्णकी गोदमें हूँ । वही मेरा स्वामी, वही मेरी माँ ! संसारकी याद ही इस समय क्यों आवे ? श्रीहरिः शरणं मम !

अरे ! एक क्षण भी तो नहीं हुआ और ओ छलिया ! ओ कपट ! फिर वही लुका-छिपी ! वही धूप-छाँह ! अभी भर आँख देख ही कहाँ पाया था हरे ! पूरा एक क्षण भी नहीं बीतने पाया और तुम्हारी छवि झिलमिल-झिलमिल-सी होकर पता नहीं कहाँ किस अदृश्यमें छिप गयी ! प्रभो ! इतनी दया कर जब आये ही तो एक क्षण और ठहर जानेमें क्या लगता ! मैं तो तुम्हारा ही बन्दी हूँ, इतना क्यों भरमा रहे हो ? अधिक नहीं, बस एक बार भर आँख देख लेता, एक क्षण तुम्हारे रूपको निरख पाता, एक बार तुम्हारे परम पावन चरणोंको अपने भूखे-प्यासे प्राणोंसे संस्पर्श कर पाता ! यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है, ओ मेरे जन्म-जन्मके प्यारे साथी !

और तुम तो मेरे जन्म-मरणके साथी हो देव ! संसारमें जब कोई भी 'अपना' नहीं होता तब भी तुम मेरा अपना—एकमात्र 'अपना' बनकर सदा-सदैव साथ बने रहते हो ! सब कोई मुझे छोड़ दे पर तुम मुझे कैसे छोड़ोगे ? कितने इस हृदयके आँगनमें आये और चले गये; आज उनकी धूमिल छाया भी नहीं है। भूलसे, मोह और आसक्तिसे उन्हें ही अपने 'प्राणोंका देवता' मानकर उनके चरणोंमें आत्मार्पण करना चाहा परन्तु हरि ! हरि ! तुम कितने उदार, कितने दयालु हो !—उसी समय, ठीक उस पागल वेलामें—मेरे प्राणोंमें अपना प्रकाश फेंककर, मेरे हृदयमें अपनी ज्योति डालकर, मेरे अन्तस्तलमें अपनी प्रीति बरसाकर और मेरी आँखोंमें अपनी छविकी माधुरी बिखेरकर मुझे जगा लिया—'ओ भोले प्राणी ! संसारमें किस-किसके चरणोंमें अपनेको निछावर करोगे ? किस-किस रूपपर अपनेको लुटाओगे ? रूपकी धूपमें यों न जलो ! लावण्यकी धारामें यों न बहो ! अपनेको सँभालो और मेरी ओर देखो ! तुम्हारे प्राणोंके भीतर जो हाहाकार है, जो आतुर उत्कण्ठा है, अमर लालसा है, अतृप्त वासना है, तुम्हारे रोम-रोममें रूपके प्रति जो रुझान है, सौन्दर्यके प्रति जो आकर्षण है वही तुम्हारी निधि है ! तुम्हारे भीतर जो प्यास है, मुझे देखने, छूने, पाने और मुझमें समा जानेकी जो सलोनी साध है वही तुम्हारे अन्तःपुरका रुचिर मणि-प्रकाश है। तुम्हारी स्थूल आँखोंसे ओझल तो मैं हो गया हूँ परन्तु अपना वरदान, अपना प्रीति-प्रतीक तुम्हारी हृदय-गुफामें छोड़ आया हूँ, इसलिये कि तुम मुझ छिपे हुएको खोजो,

खोजते रहो और खोजते-खोजते स्वयं खोजमें ही खो जाओ। यह 'खो जाना' ही साधनाका चूड़ामणि है। इसे प्राप्त कर लेनेपर मेरी प्रीति प्राप्त करोगे और उस प्रीतिके द्वारा ही तुम्हें मेरा दर्शन और स्पर्श—कभी न हटनेवाला दर्शन, कभी न मिटनेवाला स्पर्श प्राप्त होगा। उस स्पर्शके कारण ही तुम दिव्य हो जाओगे और फिर तो मैं तुम्हें अपने हृदयमें छिपा लूँगा; मेरे हृदयमें तुम होगे और तुम्हारे हृदयमें मैं। मेरे चित्तमें तुम्हारा चित्त प्रवेश कर जायगा और मेरे प्राणोंमें तुम्हारा प्राण ! मेरे मनमें तुम्हारा मन मिल जायगा और मेरी इच्छामें तुम्हारी इच्छा। फिर शेष कुछ रह ही नहीं जायगा जिसके द्वारा तुम मेरे सिवा अन्य किसी वस्तुको देखोगे ! मेरी दृष्टिमें अपनी दृष्टि मिलाकर फिर संसारको देखो—फिर यह संसार ही मेरी गोदके रूपमें तुम्हें प्राप्त होगा ! मैं तुम्हें देखता रहूँगा, तुम मुझे ! बीचमें कुछ आवरण-जैसी कोई वस्तु रहेगी ही नहीं ! वह सुख, वह शान्ति, वह प्रेम और वह आनन्द तुम्हें प्राप्त हो इसीलिये तो मैंने तुम्हारे भीतर यह अतृप्त पिपासाकी भीषण ज्वाला भर रखी है। यह तड़प ही, यह ज्वाला ही, यह विकलता ही मेरी 'प्रसादी' है। इसे बड़े जतनसे प्राणोंमें जुगोये रक्खो और सावधान ! संसारमें किसीपर भी यह प्रकट न हो।'

भीतर यह क्या सुन रहा हूँ प्रभो ! यह क्या तुम्हारी वाणी है ! क्या मैं अपने प्रियतमके ये मधुर आश्वासनके प्रीतिभरे वचन

सुन रहा हूँ ! क्या वह मेरी इतनी सुध रखता है ! क्या पग-पग-पर वह मेरी सँभाल रखता है ! क्या उसके हृदयमें मुझ अपात्र पामरके लिये इतना स्नेह, इतनी प्रीति है ! क्या वस्तुतः वह मुझे सदा अपनी छातीमें छिपाये हुए है ? क्या हर समय मैं अपने हरिकी गोदमें नहीं हूँ ? उसीका सिरजा हुआ, उसीका भेजा हुआ, उसीकी विश्व-गोदमें मैं स्वच्छन्द, निश्चिन्त, निर्भय, निर्द्वन्द्व, अलमस्त विचर रहा हूँ । फिर भी मनमें इतनी बेचैनी क्यों है ? क्यों उससे रो-रोकर प्राण बार-बार यही भीख माँग रहे हैं ?—

तनिक हरि चितवो हमरी ओर !
हम चितवत तुम चितवत नाँहीं दिलके बड़े कठोर !!

प्रेमयोगिनी मीरा

आज चार सौ वर्षसे ऊपर हुए प्रभुने पृथ्वीपर प्रेमकी एक पुतली भेजी थी। वह आयी। प्रभुके प्रेममें छकी हुई, प्रभुके आलिङ्गनमें डूबी हुई, प्रभुके रूपमें भूली हुई वह आयी। प्रभुके नूपुरोंकी रुनझुनमें अपने हृदयकी गति मिलाकर, प्रभुकी मुरलीमें अपने प्राण ढालकर, प्रभुके पीताम्बरपर अपनेको निछावर-कर, प्रभुकी मन्द-मन्द मुसकानपर अपना सब कुछ दे डालकर प्रभुके चरणोंके नीचे अपना हृदय बिछाकर वह अल्हड़ योगिनी पैरोंमें घूँघुरू और हाथमें करताल लेकर नाच उठी और प्रेमके आनन्दमें विभोर होकर गा उठी—

सुनी हो मैं हरि आवनकी अवाज।
म्हैलाँ चढ चढ जोऊं मेरी सजनी, कब आवैं म्हाराज!

इतने दिन हो गये, आज भी यह गीत स्पष्टतः भीतर गूँज रहा हैं मानो अभी कलकी बात हो। ऐसा प्रतीत होता है, इन आँखोंने वह प्रेमोन्मत्त नृत्य देखा हैं। सन्ध्याका समय हैं। मीरा आरती कर चुकी हैं। सामने श्रीगिरधरलालजीकी दिव्य मूर्त्ति विराज रही हैं। कमरेका द्वार बंद हैं और भीतर सारा स्थान तेजसे जगमगा रहा है, दिव्य गन्धसे मँह-मँह कर रहा हैं। मीरा अपने हरिजीके सामने नाच रहीं हैं। आँसुओंकी धारा बह रही है—भीतर-बाहर सर्वत्र प्रभुका सुखद सुशीतल स्पर्श और उस स्पर्शकी मादक मधुर सिहरन रोम-रोमको प्रेममें डुबोये हुए हैं—

मैं गिरधर रँगराती, सैंयाँ मैं गिरधर रँगराती।
पचरँग चोला पहर सखी मैं झुरमुट रमवा जाती।
झुरमुट माँहीं मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती॥

'खोल मिली तन गाती'! निरावरण होकर, अवगुण्ठन हटाकर प्राणाधारसे मिली, अपने प्राणोंके प्राण, हृदयके सर्वस्वसे मिली और मिलकर उसीमें मिल गयी, एक हो गयी, तल्लीन हो गयी! यह बात तो पीछे जाकर खुली जब—

आधी रात प्रभु दरसण दीन्हो प्रेम नदीके तीरा।

The beloved took me to his warm,
And I laid my bosom bare and clasped Him tight,
Ah! I clasped Him to my bosom.

संसारको इस मिलन और इस विरहका क्या पता? यह तो कुछ पागलोंके लिये—प्रभु-प्रेमके दीवानोंके लिये ही है। ऐसे

दीवाने कितने हुए? संसारमें चैतन्य और मीरा, मंसूर और ईसा कितने हुए?

मेवाड़ देशके मेड़ता स्थानमें मीराका जन्म वि० सं० १५५५ के लगभग हुआ। बचपनमें ही इनकी माताका स्वर्गवास हो गया और इसलिये इनके पालन-पोषणका भार इनके दादा राव दूदोजी-पर पड़ा। दूदोजी परमवैष्णव थे। मीराके संस्कार बचपनसे ही कृष्णप्रेमसे ओतप्रोत थे। बहुत बचपनमें ही मीरा ठाकुरजीकी पूजाके लिये पुष्प चुनती, माला बनाती और बड़े ही प्रेमसे ठाकुर-जीको पहनाती। भगवान्‌का शृङ्गार कर वह अपनी तुतली बोलीमें जाने क्या गुनगुनाती। प्रातःकाल नींद खुलते ही ठाकुरजी! बस, ठाकुरजीके सिवा न कुछ कहना, न कुछ सुनना। दादाजी जब भगवान्‌की षोडशोपचार पूजा करते तब मीरा एकटक देखा करती।

बचपनकी ही एक घटना है। मीराके घर एक साधु आये, उनकी पूजामें श्रीगिरधरलालजीकी मूर्त्ति थी। मीराको वह मूर्त्ति ऐसी लगी मानो वह उसके जन्म-जन्मका साथी हो। उसे पानेके लिये मीराका हृदय मचला। पर वह साधु मूर्त्ति क्यों देने लगे! मीराको उस मूर्त्तिके बिना कल कैसे पड़ती! उसने खाना-पीना छोड़ दिया और छटपटाने लगी। साधुने स्वप्नमें देखा कि उसके गिरधरलालजी उस अल्हड़ बालिकाके पास पहुँचा आनेका आदेश कर रहे हैं। भोर होते ही वह साधु मीराको मूर्त्ति दे आया। अब मीराकी प्रसन्नता-का क्या पूछना!

ऐसी ही एक और विचित्र घटना है। मीराके गाँव एक बारात आयी। लड़कियोंको बचपनमें अपने भावी पतिको जाननेकी बड़ी ही सरलतापूर्ण उत्कण्ठा रहती है। मीराने बड़ी सरलतासे अपनी मातासे पूछा, 'माँ! मेरा विवाह किससे होगा?' बच्चीके प्रश्नपर हँसती हुई माँने कहा—'गिरधरलालजीसे' और सामनेकी मूर्त्तिकी ओर सङ्केत किया। मीराके मनमें यह बात बैठ गयी कि गिरधरलालजी ही वास्तवमें उसके पति हैं।

अठारह वर्षकी अवस्थामें मीराका विवाह मेवाड़के इतिहासप्रसिद्ध स्वनामधन्य राणा साँगाके ज्येष्ठ कुँवर भोजराजजीके साथ हुआ। मीरा अपनी ससुरालमें भी अपने इष्टदेवकी मूर्त्ति लेती गयी। मीराका दाम्पत्य जीवन बड़ा ही आनन्दपूर्ण था। ऐसी सती-साध्वी नारी अपने पतिदेवकी सेवा न करेगी तो कौन करेगा? मीरा बड़े आदर और विनयके साथ पतिकी परिचर्यामें रहती और साथ ही नियमपूर्वक प्रभुकी उपासना भी किया करती।

प्रभु जिसे अपनाते हैं उसके सारे अन्य बन्धनों और सम्बन्धोंको छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जबतक जीव संसारमें किसीका भी आसरा-भरोसा रखता है तबतक वह प्रभुके आश्रयसे वञ्चित रहता है। हम सर्वथा प्रभुके हो जायँ, इसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि संसारमें भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंको लेकर जो हमारा अनुराग है वह सिमटकर प्रभुमें केन्द्रीभूत हो जाय, घनीभूत हो जाय! जो प्रेम प्रभुके चरणोंमें निर्माल्य हो चुका है उसमें साझीदार संसारका कोई भी प्राणी कैसे होगा?

मीराका दाम्पत्यजीवन अभी पनप ही रहा था कि पतिदेव चल बसे। अब तो मीराकी जीवनधारा एकबारगी पलट गयी। संसारके सभी सम्बन्ध हटाकर वह एकान्तभावसे श्रीगिरधरलालजीकी सेवामें रहने लगी।

लोकलाज और कुलकी मर्यादाको अलग कर मीरा अपने हरिजीकी साधनामें अहर्निश लगी रहती। प्रेमकी अजस्र धारामें लोकलाज कैसे टिकती? मीराको तो कुछ पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है। उसके यहाँ अब बराबर साधुओंकी भीड़ लगी रहती। भगवत्-चर्चाके सिवा अब उसे करना ही क्या रह गया! श्रीगिरधर गोपालजीकी मूर्त्तिके सामने मीरा नाचा करती और संतोंकी मण्डली जमी रहती! घरवालोंको यह बात कैसे पसंद आती। राणा साँगाकी मृत्यु हो चुकी थी और इस समय मीराके देवर विक्रमाजीत सिंहासनपर थे। उनसे मीराकी ये 'हरकतें' देखी न गयीं। उन्होंने मीराको मार डालनेकी कई तदबीरें सोचीं, परन्तु जिसकी रक्षा स्वयं परमात्मा कर रहा है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है! विषका प्याला भेजा। मीरा उसे हरिजीका चरणामृत समझकर पी गयी! विष भी अमृत हो गया! जिसके अनुकूल स्वयं प्रभुजी हैं उसके लिये तो संसारकी सारी प्रतिकूलता अनुकूल है ही। पिटारीमें साँप भेजा गया। मीरा उसे खोलती है तो देखती है कि शालग्रामजीकी मूर्त्ति है। मीराने उसे छातीसे चिपका लिया, प्रेमाश्रुओंसे नहला दिया!

धूपदीप

सखी मेरो कानूड़ो कलेजेकी कोर।
मोर मुगट पीतांबर सोहै कुंडलकी झकझोर॥
बिंद्रावनकी कुंजगलिनमें नाचत नंदकिसोर॥

परीक्षाकी 'इति' यहींतक नहीं थी। मीरा प्रतिदिन अधिकाधिक खुलकर साधु-महात्माओंमें रहने लगी और रात-दिन हरि-चर्चा तथा कीर्तनके सिवा उसे कुछ सुहाता ही न था। मीराने यह निश्चय कर लिया कि जितने छन शरीरमें प्राण रहेंगे उतने छन हरिगुणगानमें ही बीतेंगे। प्राण छूट जायँ—भले ही छूट जायँ, पर कीर्तन कैसे छूटता! सासने बहुत मना किया। बहुत समझाया-बुझाया, परन्तु यहाँ तो प्रेमकी वेदीपर सर्वस्व निछावर हो चुका था! मीराकी एक ननद थी, जिसका नाम था ऊदा। उसने भी मीराको 'राहपर लाने' की बहुत चेष्टाएँ कीं, परन्तु मीराका मन तो मोहनके चरणोंमें बँध चुका था! ऊदासे अपनी हार सही न गयी। उसने एक षड्यन्त्र रचा। विक्रमाजीतसे जाकर उसने कहा कि मीरा आधीरातको द्वार बन्दकर और दीपक जलाकर किसी पुरुषसे प्रेमालाप करती है। वह पुरुष नित्य मीराके पास आधी-रातको पैरोंकी चाप छुपाये धीरे-धीरे आता है। उसने राणासे यह भी कहा कि यदि उसे विश्वास न हो तो स्वयं आकर देख ले। राणाके क्रोधका अब क्या ठिकाना! चेहरा तमतमा उठा। वह अभी मीराका सिर धड़से अलग करनेके लिये तलवार लेकर दौड़े!

भादोंके कृष्णपक्षकी आधीरात है। मेघ झमाझम बरस रहा है और बिजली कड़क रही है—परन्तु उस मेघसे भी अधिक बरस रही हैं वियोगिनी मीराकी दो करुणाविगलित आँखें; उस बिजलीसे भी अधिक कड़क रहा है उसका दर्दभरा दिल—साँवरेके विरहमें तड़पता हुआ पागल विह्वल हृदय! संसार सुखकी नींद सो रहा है; परन्तु वियोगिनीकी आँखोंमें नींद कहाँ, विश्राम कहाँ, शान्ति कहाँ! मीराने श्रीगिरधरलालजीकी मूर्त्तिके पास दीपक जला दिया है और अगरकी सुगन्धिसे सारा कमरा गमगमा रहा है। मीराने पहले हरिजीके मस्तकपर रोली लगायी और फिर वही प्रसाद अपने सिर-आँखोंसे लगाया। नववधूके रूपमें मीरा सजी हुई है। वह एकटक अपने प्राणाधारको देख रही है। देखते-देखते क्या देखती है कि उस मूर्त्तिमेंसे उसके हृदयेश्वर निकलते हैं, मन्द-मन्द मुसकाते हुए मीराका आलिङ्गन करनेके लिये आगे बढ़ते हैं—मीरा प्रेमके इस अवहनीय भारको कैसे सँभालती। मिलनकी सुख-धारामें वह वह चली। मीराने मिलनेके लिये अपने मस्तकको आगे बढ़ाया; परन्तु संज्ञाहीन होकर वह गिर पड़ी, प्रभुजीके चरणोंमें गिर पड़ी। उसके संज्ञाहीन प्राणोंने अपने भीतर देवताके परम शीतल अथ च मधुर-मधुर स्पर्शका अनुभव किया! वह कोमल, पावन, दिव्य स्पर्श!!

'वह' आया तो प्राण मिलन-सुखके भारको सह न सके और अब जब प्राणोंमें संज्ञा लौट आयी है तो उसका ही पता नहीं। आँखें खुलीं। मीराके प्राण अब भी स्पर्शके आनन्दमें बेसुध थे!

आँसुओंमें सनी हुई वेदनाविगलित वाणी कुछ अस्पष्ट कुछ अस्फुट स्वयं निकल रही थी·······आह ! एक क्षण और ठहर जाते ! कई जन्मोंसे तुम्हें ढूँढ़ती आ रही हूँ। प्राणोंका दीप जलाकर संसारका कोना-कोना छान आयी। तुम्हारा पता किसीने नहीं बताया। आज बड़ी दया की। अह ! वह छवि !

निपट बंकट छवि अटके,
मेरे नैना निपट बंकट छवि अटके॥
देखत रूप मदनमोहनको पियत मयूखन मटके।
वारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंधरस अटके॥
टेढ़ी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके।
मीरा प्रभुके रूप लुभानी गिरधर नागर नटके॥

अह ! भर आँख अभी तो देख भी नहीं पायी थी। कहाँ छिप गये, कहाँ खिसक गये ? तुम्हारा वह मन्द-मन्द मुसकाना······· वे बड़ी-बड़ी पागल बनानेवाली आँखें, वह केसर-तिलक, लहराती हुई अलकावलि और उसपर तिरछा-बाँका मोर-मुकुट ! अह ! यदि ऐसे ही छिपना था तो छिपे ही रहते ! इस प्रकार तरसा-तरसाकर प्राणोंको तड़पानेकी यह कौन-सी विधि सोच रक्खी है ! जीवनधन ! आओ, मैं तुम्हें प्राणोंके भीतर छिपा दूँ—

मैं अपने सैयाँ संग राँची।
अब काहेकी लाज सजनी परगट है नाची।

अचानक दरवाजे फट पड़े और राणा विक्रमाजीत नंगी तलवार लिये, क्रोधमें तमतमाये भीतर घुस आये ! उन्होंने देखा कि

श्रीगिरधरलालजीकी मूर्त्तिके सामने मीरा हाथ जोड़े अर्द्धमूर्च्छित दशामें बैठी हुई है और आँखोंसे आँसुओंकी धारा चल रही है। उसने क्रोधमें पागल होकर मीराका हाथ खींचा और क्रोध-स्फीत शब्दोंमें कहा—'कहाँ है तेरा प्रेमी जिसके साथ तू रातों जागा करती है, अभी मैं उसका सिर धड़से अलग किये देता हूँ।' मीरा भावमग्न हो रही थी। उसने अँगुलीसे श्रीगिरधरलालजीकी मूर्त्तिकी ओर संकेत किया! परन्तु राणाके लिये तो वह बस एक पत्थरकी मूर्त्ति थी! क्रोधमें मनुष्य शैतान हो जाता है, उसे उचित-अनुचित-का ज्ञान नहीं रहता। विक्रमाजीतको मीराकी बातोंका विश्वास नहीं हुआ। उसने फिर सिंहकी तरह गरजते हुए कहा, 'अभी ठीक-ठीक बता, तू किससे बातें कर रही थी? नहीं तो आज तेरे ही रक्तसे इस तलवारकी प्यास बुझाऊँगा।' मीरा डरती क्यों! जिसे परमात्माका बल प्राप्त है संसार उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। मीराने दृढ़तापूर्वक कहा, 'सच मानो, यही मेरा चितचोर प्राणधन है। इसीके चरणोंमें मैंने अपनेको निछावर कर दिया है…………अभी देखो, देखो, खड़े-खड़े मुसका रहा है। एक क्षण भी तो नहीं हुआ वह आया था। अह! वह रूप! उसने मुझे अपने आलिङ्गन-पाशमें बाँधनेके लिये ज्यों ही बाहें बढ़ायीं त्यों ही मैं अभागिनी……उफ!! मत पूछो! उस अपरूप रूपको देखते ही मेरी आँखें झँप गयीं, मैं संज्ञाहीन होकर गिर पड़ी। वह धीरे-धीरे मुरली बजाकर मेरे प्राणोंमें गा रहा था। अह! वह शीतल स्पर्श! वह जगत्‌का

स्वामी अनादिकालसे चित्त चुराता आया है और यहीं उसकी बान पड़ गयी है। उसने प्रेमस्वरूपा गोपियोंका हृदय चुराया! इतनेसे ही उसका जी न भरा! वे जब स्नान कर रही थीं उसने उनके वस्त्र भी चुरा लिये! मैं तो अपने प्राण उसके हाथों बेंच चुकी! वह भला इसे क्यों लौटाने लगा! देखो! देखो! वह अपनी शरारतपर स्वयं मुसका रहा है। देखो, देखो, वह सलोनी साँवरी सूरत देखो! प्राण, मेरे पागल प्राण! आओ, खुलकर आओ, आवरण हटाकर आओ! संसारमें मेरा तुम्हारे सिवा और है ही कौन? आओ, प्राण! मुझे अपनेमें डुबा लो, एक कर लो—

श्रीगिरधर आगे नाचूँगी।
नाच नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमीजनको जाचूँगी॥
लोक लाज कुलकी मरजादा यामें एक न राखूँगी।
पियके पलँगा जा पौढ़ूँगी मीरा हरि रँग राचूँगी॥

गाते-गाते मीरा मूर्च्छित हो गयी। विक्रमाजीत किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये। ऊदा और अन्य लड़कियाँ जो कमरेमें आयी थीं मीराके इस दिव्य प्रेमको देखकर अवाक् हो गयीं। ऊदा मीराके चरणोंमें गिरकर रोने लगी। अपने कियेपर उसे बड़ी ग्लानि हुई!

मीराकी भक्ति-सुरभि दिग्-दिगन्तमें फैलने लगी और लोग उसके दर्शनोंके लिये स्थान-स्थानसे आने लगे। राजमहलमें बराबर लोगोंकी भीड़ देखकर विक्रमाजीतसे सहा नहीं गया। मीराको

राज-पाट और लोक-लाजसे क्या करना था। वह सब कुछ छोड़-छाड़कर वृन्दावन चली। वृन्दावन पहुँचकर मीराका बस एक ही काम था—मन्दिरोंमें प्रभुकी मूर्त्तिके सामने कीर्त्तन करना। प्रेम-की इस मूर्त्तिको जो भी देखता वही श्रद्धा और भक्तिसे सिर झुका लेता! वृन्दावनमें पहुँचकर मीराको ऐसा लगा मानो वह अपने 'घर' आ गयी है। वहाँके एक-एक वृक्ष, लता-पतासे उसका पूर्व परिचय था। वृन्दावन तो उसके जन्म-जन्मके 'साथी' का देश था। व्रजकी माधुरीपर मुग्ध होकर मीराने अपने प्रेमभरे उद्गार प्रकट किये—

या व्रजमें कछू देख्यो री टोना।
ले मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नन्दजीके छोना।
दधिको नाम बिसरि गयो प्यारी 'ले लेहु री कोई श्याम सलोना'॥
बिंद्रावनकी कुंजगलिनमें आँख लगाय गयो मनमोहना।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर सुंदर स्याम सुघर रस लोना॥

वृन्दावनमें मीराके आनन्दका पारावार उमड़ आया। मीराने पैरोंमें घुँघुरू बाँधे, हाथमें करताल लिये और माँगमें सिंदूर भरकर श्रीहरिकी आरतीके लिये चली। उस प्रेम-दीवानी अल्हड़ तपस्विनी-ने देखा—सामने प्रभुजीकी त्रिभुवन-मोहिनी मूर्त्ति मुसका रही है, वही मोरमुकुट, वही मुरली और वही पीताम्बर! मीराने आरती-की थालीमेंसे रोली उठायी और प्रभुजीके मस्तकपर लगाने ही जा रही थी कि आँखें प्रेमसे मुँद गयीं, उनमें आँसू भर आये। वह देखती है कि आँसुओंकी गङ्गा-यमुनामें भी हरिजीकी मूर्त्ति केलि

कर रही है। हाथकी रोली हाथमें ही लिये रही—बड़ी विचित्र दशा है। आँखें बन्द करती है तो हृदयके मन्दिरमें हरिजी विराज रहे हैं, आँखें खोलती है तो आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें—सर्वत्र गोपाल-ही-गोपाल हैं। जकी ठगी-सी विमुग्ध खड़ी है, कुछ कहते नहीं बनता। कैसे आलिङ्गन करे, कैसे रोली लगाये!

कर्पूरका दीपक लेकर वह आरती करने चलती है—कठिनाईसे एक बार वह दीपकका थाल घुमा पाती है कि उसकी दृष्टि प्रभुजीके मोरमुकुटपर अटक जाती है; दीपकका थाल लिये वह विमूढ़-सी खड़ी है। प्रार्थनाके शब्द—'तुम स्वामी मेरे·······' का प्रवाह चल रहा है। वाणी गद्गद है, नेत्र अश्रुपूर्ण, हृदय हरिमय, प्राण-प्राणमें, रोम-रोममें श्रीगिरधरलालजी छाये हुए हैं। समस्त विश्व केवल कृष्णरूप हो रहा है। कृष्णके सिवा कुछ है ही नहीं—मीरा स्वयं कृष्ण हो रही है। उसे अपनी आँखोंपर सहसा विश्वास नहीं होता। ऐसा भासता है, मानो वह स्वप्नलोकमें विचर रही है। प्रीतमके मिलनका जो आनन्द है वह शब्दोंमें लिखा नहीं जा सकता। कोई कहना चाहे भी तो कैसे कहे!

आधीरात हो रही है और मीराकी आरतीका उपक्रम समाप्त नहीं हुआ। कभी वह आँसुओंसे प्रीतमके पाँव पखारती है, कभी श्रीगिरधरलालजीकी मूर्त्तिको छातीसे लगाकर उनकी आँखोंपर अपने अधरोंको रख देती है। कभी उनके चरणोंको जोरसे अपनी छातीमें बाँध लेती है और कभी उपालम्भके मीठे ताने सुनाती है—

स्याम म्हांसो ऐंडो डोले हो ।
औरन सूँ खेलै धमार म्हासों मुखहुँ न खोले हो ॥

× × × ×

वह प्रेम क्या जो अघाना जाने । वह भक्ति क्या जो समस्त विश्वको अपने प्रभुमें लय न कर दे । वह साधना क्या जो संसारके इस सघन पटलको हटाकर अपने प्राणेश्वरको प्रतिपल अखण्डरूपसे न देखे ! वह भक्त क्या जो सर्वत्र और सर्वदा केवल अपने उपास्यदेवको न देखे । बीचका पर्दा हटा देनेपर रह ही क्या जाता है ? संसार कहता है मैं बना रहूँगा; भक्त कहता है मैं तुम्हें मिटाकर ही छोड़ूँगा और जीत भी भक्तकी ही होती है । कितनी सुन्दरतासे भक्त इस संसारको मिटाता है ! वह संसारसे द्वन्द्व नहीं छेड़ता । वह जगत्से लड़ने नहीं जाता । वह तो अपने भीतर प्रवेशकर, अपने हृदयका पट हटाकर अपने 'प्रीतम'की झाँकी पा लेता है । वही झाँकी उसकी आँखोंमें, उसके रोम-रोममें उतर आती है । अब वह इन आँखोंसे जो कुछ देखता है सब केवल कृष्ण-ही-कृष्ण होता है । यह संसार उसके सम्मुख 'संसार' नहीं रह जाता । यह तो प्रभुका मङ्गलमय परम मनोहर दिव्य विग्रह हो जाता है । जगत् जब सर्वत्र प्रभुमय हो गया तो इसका अपना आकर्षण, अपना सम्मोहन कैसा ? इसीलिये कहा जाता है कि भक्तके सामने संसारका जादू नहीं चलता ।

आधीरात हो रही है और मीरा पूजामें संलग्न है । बाहरका द्वार बंद है । दीपक जल रहा है । प्रभुजीकी मूर्त्ति सामने विहँस

रहा है। नववधूकी भाँति मीराने लाल रेशमी साड़ी पहन ली है और माँगमें सिंदूर भर लिया है। हाथोंमें करताल है और पैरोंमें घुँघुरू। प्रेम-विभोर होकर मीरा नाच रही है—

मीरा नाची रे,
पग घुँघुरु बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायणकी आपहि हो गयी दासी रे॥

संकीर्तनकी इस धुनमें समस्त विश्व लय हो रहा है। मीराके घुँघुरू और करताल माधवके नूपुर और मुरलीमें मिलकर एक अपूर्व मादक सङ्गीतकी सृष्टि कर रहे हैं। मीरा नाच रही है और इस पगली भक्तिनके साथ प्रभुजी भी नाच रहे हैं। मीराकी बंद आँखें हरिजीके रूपरसका पान कर रही हैं, हृदय कृष्णके चरणोंमें लोट रहा है। प्राणोंकी झङ्कार नूपुरकी रुमझुनमें लय हो रही है। रोम-रोमसे हरि हरि !! इस समय संसार नहीं है। इस विराट् रासमें केवल कृष्ण-ही-कृष्ण हैं। फिर इसमें 'लोग कहें बिगड़ी' की क्या चिन्ता ? अपने प्राणप्यारेसे क्या लज्जा, क्या दुराव। उससे क्या छिपाना जो हृदयका अधीश्वर है, प्राणोंका पति है, जीवनका सर्वस्व है ? वहाँ तो सर्व-शून्य होकर, निरावरण होकर हृदयका पुष्प सर्वतोभावेन प्रभुके चरणोंमें समर्पित करना होना है। जो हृदयके भीतर बस रहा है उससे क्या छिपाया जाय ! सर्वात्म श्रीकृष्णार्पण इसीको कहते हैं।

प्रेमकी चोट बड़ी करारी होती है। वही इसे जानता है जिसका हृदय प्रेमके बाणोंसे विंधा हो। शब्दोंमें इसका वर्णन कोई करना भी चाहे तो क्या करे। आशा और प्रतीक्षा—

प्रेमियोंके हिस्से ये ही पड़ी हैं। मिलनकी आशा और प्राणाधारकी प्रतीक्षा ! कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमाधार पूर्णतः पकड़में आ गया, परन्तु प्रेमास्पदकी लुका-छिपी ! अह ! कितनी आकर्षक, कितनी मधुर है। श्यामसुन्दरपर मीराकी लुभाई हुई दृष्टि जाती है—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
रोम रोम नख सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय॥
मैं ठाढ़ी घर आपणे री मोहन निकसे आय।
बदन चंद परकासत हेली मंद मंद मुसकाय॥

× × × ×

मैं अपने आँगनमें खड़ी थी। सामनेसे श्यामसुन्दर निकले। आँखें हठात् उनपर जा पड़ीं। रोम-रोम उसे निहारने लगा। वह छवि हृदयको कितनी शीतल, कितनी मधुर प्रतीत होती है। हृदयमें अमृत झरने लगा। उनके मुखचन्दकी द्युति और मन्द-मन्द मुसकान हृदयमें बरबस घर किये लेती है। मीरा अपने भीतर यह दृढ़तापूर्वक अनुभव करती है कि उसने गिरधरलालजीको पूरी तरह अपना लिया है, उन्हें मोल ले लिया है, वे अब मीराके हृदय-देशमें बन्दी हैं—

माई री मैं तो गोविंदो लीनो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लीनो री बजंताँ ढोल।

मैंने डंकेकी चोट गोविन्दको मोल ले लिया। लोग चाहे जो कहें, मैंने तो उन्हें रू-बरू देख लिया, अपना लिया, अपने

हृदयके अन्दर कैद कर लिया ! मीराकी आँखोंमें, हृदयमें, प्राणमें, रोम-रोममें जिस त्रिभुवनसुन्दरकी मोहिनी मूर्त्ति बसी हुई है उसकी झाँकी लीजिये—

बसो मेरे नैननमें नँदलाल ।
मोहनी मूरत साँवली सूरत नैना बने बिसाल ।
अधर सुधारस मुरली राजत उर वैजंती माल ॥
छुद्रघंटिका कटितट सोभित नूपुर सबद रसाल ।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भगतबछल गोपाल ॥

ऐसे प्रीतमको एक बार पाकर फिर कैसे छोड़ा जाय ! आओ, हम सब मिलकर इन्हें बाँध रक्खें और नैनोंसे इनका रस पीते रहें । जितने क्षण प्राण रहें श्यामसुन्दरको सामने देखते रहें। इन्हें देखकर ही हम जियें । यदि उन्हें आँखोंसे ओझल ही होना है तो अच्छा है कि हमारे प्राण न रहें, हम न जियें । प्रीतम जिस वेषको धारण करनेसे मिले वही करना उचित है । वही वास्तवमें बड़भागिन है जिसका हृदय मदनमोहनपर निछावर हो चुका है ।

In my eyes in my heart
Thou art O Beloved!
So much thou art and so always,
That whatever I see looming in the distance
I think it is Thou coming to me.

प्रभुको भक्त जितना ही अधिक पकड़ता जाता है उतनी ही दृढ़ता उसमें आती जाती है और उतने ही अनन्य भावसे वह

प्रभुका और प्रभु उसके होते जाते हैं। हृदयकी बहुत ऊँची अनन्य-शरणागति ही मीरासे कहला रही है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ॥
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई ॥

एक बार यदि वह मूर्त्ति हृदयमें उतर आयी और हृदय उसके रंगमें रँग गया तो फिर क्या कहना! आँसुओंके जलसे सींची हुई प्रेमकी लता जब फैल उठी तो उसमें फिर आनन्दके फल आने लगे। आनन्दके सिवा रह ही क्या गया! अब तो एक क्षणके लिये भी 'उसे' छोड़ते नहीं बनता—

पिया म्हारे नैणाँ आगे रहज्यो जी।
नैणाँ आगे रहज्यो जी, म्हाँने भूल मत जाज्यो जी ॥

विरह ही प्रेमका प्राण है। मिलनमें प्रेम सो जाता है और वही विरहमें जग जाता है। विरहमें सारी सृष्टि प्रेमपात्रकी प्रतिमूर्त्ति बन जाती है। सब कुछ उसी 'एक' का सन्देश लानेवाला बन जाता है। मीराका विरह अपने ढङ्गका अकेला ही है। अपने प्राणवल्लभ-के लिये हृदयमें अनुभव की हुई टीसको प्रेमलपेटे अटपटे छन्दोंमें रखकर अल्हड़ प्रेमसाधिका मीराने अपने करुणा-कलित हृदयको हलका किया है। मीराका दुःख एक आतुर भक्तका दुःख है, प्रेमविह्वल साधकका दुःख है, एक प्रेमीका दुःख है, कविका दुःख नहीं। मीराका दुःख उधार लिया हुआ नहीं है। मीराका दुःख तो एक अकथ कहानी है, प्रेमकी वेदीपर सर्वस्वसमर्पणका एक

सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। शब्दोंसे उस दुःखको नापा नहीं जा सकता। वह तो केवल अनुभवगम्य है।

मैं बिरहिण बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली।
बिरहिण बैठी रंगमहलमें मोतियनकी लड़ पोवै।
एक बिरहिण हम ऐसी देखी अँसुवनकी माला पोवै॥
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुखकी घड़ी कब आवै।
मीराके प्रभु गिरधरनागर मिलके बिछुड़ न पावै॥

अपनी दुर्बलताओं और प्रेमपथकी कठिनाइयोंकी ओर जब ध्यान जाता है तो कभी-कभी जी घबड़ा उठता है और निराशा-सी हो आती है—

गली तो चारों बन्द हुई हरी सूँ मिलूँ कैसे जाय।
ऊँची नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय॥

इस निराशामें तो, बस, प्रभुकी दयाका ही भरोसा है। वही दयाकर उबारे तो उबरनेकी कुछ आशा है, नहीं तो·········!!

सजन सुध ज्यों जानो त्यों लीजै।
तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजै॥
दिवस न भूख, रैन नहीं निंदिया, यों तन पल-पल छीजै।
मीराके प्रभु गिरधरनागर मिल बिछुरन नहिं दीजै॥

आँखोंको कौन मनावे, हृदयको कौन समझावे? एक क्षण भी श्यामसुन्दरके बिना इनका टिकना असम्भव है। यह तो हाय-हायकर जीवनसर्वस्वके लिये तड़प रहा है—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी ।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी ।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी ॥
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी ।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी ॥

लोग 'बिगड़ी' कहें अथवा 'बनी', इससे मीराका क्या बनता-बिगड़ता है । वह तो गिरधर गोपालके हाथों बिक चुकी है । उसीकी मूर्ति उसके हृदयमें बसी हुई है । कृष्ण ही उसका जीवन, कृष्ण ही उसकी मृत्यु है; कृष्ण ही उसका स्वर्ग, कृष्ण ही उसका अपवर्ग है । कृष्णके सिवा उसके लिये लोक-परलोक कुछ है ही नहीं । विरहकी इस तीव्र वेदनाके साथ मिलनकी उत्सुक प्रतीक्षा तथा आकुल उत्कण्ठा भी कम नहीं है । प्रेममें विरह और मिलन लिपटे सोते हैं । मिलनकी झाँकी लीजिये । रातका समय है । पानी बरस रहा है । हरिजीको मेघोंने मीराके घरमें रोक रक्खा है । वे अब बाहर जाते भी कैसे ? मीराके घरमें गिरधर-लालजी बंद हैं । मीरा अपने प्राणधनको पाकर प्रेमानन्दमें बेसुध है । वह भावावेशमें गा उठती है—

नंदनँदन बिलमाई, बदराने घेरी माई ।
इत घन लरजे, उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई ।
उमड़ घुमड़ चहुँदिससे आया पवन चलै पुरवाई ॥
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणाई ।
मीराके प्रभु गिरधरनागर चरणकँवल चित लाई ॥

वृन्दावनमें बहुत समयतक रहकर मीरा द्वारका पहुँची और वहाँ श्रीरणछोड़जीके मन्दिरके सामने कीर्तन किया करती! भक्तोंकी वही अपार भीड़ और मीराका वही प्रेमाविष्ट कीर्तन और नृत्य !! मीरा जब हाथमें करताल लेकर नाचने लगती उस समय समस्त प्रकृति रासके आनन्दमें उन्मत्त होकर थिरकने लगती। मीरा तो कृष्णकी प्राणप्रिया सखी थी—उसके आनन्दको बढ़ानेके लिये हरि स्वयं उतर आते और मीराके साथ-साथ समस्त भक्त-मण्डली कृष्णमिलनके रसमें, प्रभुके मधुर आलिङ्गन-रसमें सराबोर हो जाती।

आज मीराका प्रयाण-दिवस है। आज प्रभुकी यह प्रेमपुतली ... आनन्द-लीला संवरणकर हरिमें एकाकार होनेवाली है। आखिर यह द्वैत, यह अन्तर वह कबतक सहन करती! आज रणछोड़जीका मन्दिर विशेषरूपसे सजाया गया है। एक अपूर्व गम्भीरताका साम्राज्य है! मीरा प्रेमानन्दमें बेसुध है। आज उसकी तपस्या पूरी होनेवाली है। आज उसने पुनः नववधूका वेश धारण किया है। लाल रेशमी साड़ी पहन ली है। माँगमें सिन्दूर भर ली है। पैरोंमें घुँघुरू बाँध लिया है! आज मीराकी जो प्रेम-सेज सजी है उसकी सुन्दरताका क्या कहना। आज तो सूली ऊपर जो पियाकी सेज बिछी है उसीपर जाकर मीरा अपने प्राणेश्वरके साथ पौढ़ेगी। प्रीतमकी अटारीपर आज मीरा सुखसे सोयेगी—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुण सेज बिछी।
पचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली॥

बाजूबंद कडूला सोहै माँग सिंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथमें लीन्हा सोभा अधिक भली॥
सेज सुखमणाँ मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी।

आज रणछोड़जीके मन्दिरकी एक अपूर्व छटा है। मीरा सज-धजकर आज महामिलनकी तैयारीमें आयी है। आज उसके स्वरमें एक अपूर्व करुणापूर्ण मादकता है। आज वह गाती है और धीरे-धीरे अपनेको हरिमें एक करती जाती है। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है और लोग उसके चरणोंको चूमने लगते हैं। सारा मन्दिर अचानक तेजोमय हो जाता है। मीरा उठती है और रणछोड़जीकी मूर्ति अपना हृदय खोलकर उसे अपने भीतर ले लेती है। मीरा माधवमें मिलकर एक हो जाती है। भक्तमण्डली निर्निमेष दृष्टिसे यह सब देखती रह जाती है। मीरा सदाके लिये हमारी स्थूल आँखोंसे ओझल हो जाती है।

कबीरका हृदय

कबीरकी अटपटी 'बानी' के भीतर पैठकर उनके हृदयकी निगूढ़ व्यथाका मर्म समझना बहुत कठिन कार्य है। कबीरके सम्बन्धमें हमारी बड़ी विचित्र धारणा है। कबीरको प्रायः नीरस, शुष्क, अक्खड़ महात्मा समझा जाता है। संसारके प्रति कबीरका जो दृढ़ वैराग्य है उसकी ही ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ, प्रेमसे भिने हुए कबीरके हृदयको कसमसाहटको किसीने देखनेकी चेष्टा ही नहीं की। 'नइयामें नदिया बही जाय' तथा 'बरसे आँगन भीजे पानी' की ओर बार-बार संकेतकर हमने कबीरको ऊटपटाँग महात्मा जानकर सन्तोष कर लिया। इन उलट-बाँसियोंमें लोगोंका बस एक कुतूहलमात्र हुआ। कबीरके साथ अभी हमारा परिचय सर्वथा अपूर्ण है, अधूरा है।

कबीरकी साधनाके दो अङ्ग हैं—'दुःखालय' और 'अशाश्वत' जगत्के बनने-मिटनेवाले बाह्य रूपके प्रति कबीरका अत्यन्त दृढ़ वैराग्य है। उनकी भावना प्रबल है कि 'रहना नहिं देस बिराना है।' यह संसार जिसके प्रति हमारा अपार आकर्षण है पानीके बुलबुलेकी भाँति क्षणभङ्गुर है। कबीरने जगत्के असली रूपको खूब अच्छी तरह ठोक-बजाकर देख लिया परन्तु इससे वे परास्त नहीं हुए। मृत्यु, विनाश, सीमा, परिवर्तन और विकारको पारकर कबीरने 'परम पुरुष' के संस्पर्श-सुखको अपने अन्तस्तलमें अनुभव किया। इस ब्रह्म-संस्पर्शके उन्मादकारी मधुमें कबीरने अपनी साधनाको अभिसिञ्चित किया है। कबीरने सच्चे आनन्दका रस पिया और घूँघटका पट हटाकर अपने प्राणवल्लभका आलिङ्गन किया। मृत्युके उस पार प्रेम, सौन्दर्य और आनन्दकी जो त्रिवेणी लहरा रही है उसमें कबीरने अपनी आत्माको नहलाया। उस अमर ज्योतिसे कबीरके जीवनका प्रतिपल और उनके विश्वका कण-कण उद्भासित हो रहा है।

सोवौं तो सुपने मिलै, जागौं तो मन माहिं।
लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं॥
गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर।
चहुँ दिस दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर॥

कबीर 'क्रान्तदर्शी' आत्मज्ञानी संत थे। उन्होंने 'उस पार' को देखा और जगत्को बेधती हुई उनकी दृष्टि वहीं जाकर

ठहरी जहाँ 'परम पुरुष' का रंगमहल है; जहाँ सत्-चित्-आनन्द-का ही साम्राज्य है।

> सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
> बलिहारी वा घटकी, जा घट परगट होय॥
> ज्यों तिलमाहीं तेल है, ज्यों चकमकमें आगि।
> तेरा साईं तुझमें, जागि सकै तो जागि॥

ऊपरी ऊपर तो जगत्में हाहाकार, अशान्ति और विरोध तथा विषमताकी आग धधक रही है। परन्तु जिन्होंने इसके बाह्य रूपको भेदकर अन्तरमें प्रवेश किया है उनके लिये यही संसार आनन्द और शान्तिका आगार है। यह जो कुछ भी है वह परमात्मासे ओतप्रोत है, इस जगत्में जो कुछ भी 'जगत्' है वह प्रभुमय है, हरिका रूप-विलास है। —'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'। इसे समझनेके लिये आवश्यकता है अपने भीतर डूबकर अपनी वास्तविक सत्ताका साक्षात्कार करनेकी। कबीर इसे ही 'पियका परिचय' कहते हैं—

> पिउ परिचय तब जानिये, पिउसे हिलमिल होय।
> पिउकी लाली मुख पड़े, परगट दीसै सोय॥
> लिखा लिखीकी है नहीं, देखा-देखीकी बात।
> दुलहा दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात॥

यह साक्षात्कार, यह प्रिय-मिलन बहुत ही कठिन, बहुत ही दुर्लभ है। यह सिरका सौदा है। इसके लिये कबीरने ललकारते हुए कहा है कि यदि प्रभुका साक्षात्कार करना है तो अपने ही हाथों अपना सिर उतारकर रख देना होगा और उस कटे सिरपर

पैर देकर भीतर आना होगा। मिलनके इस आनन्दको राजा, प्रजा जिसे भावे वही सीस देकर पा सकता है। एक बार परम आनन्द-के इस अमृत तत्त्वके संस्पर्शमें जो आ गया वह जन्म-जन्मान्तरके लिये निहाल हो गया। आठों पहर वह इसी रसमें भीना रहता है और उसका रोम-रोम प्रेममें छका रहता है। पुतलीमें दिलदार-की तस्वीर जब उतर आयी तो फिर घूँघटका पट आप ही हट गया और—

> **नैनोंकी करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।**
> **पलकोंकी चिक डारिके, पियको लिया रिझाय॥**

आँखोंकी कोठरीमें पुतलीका पलंग बिछा दिया, बाहरसे पलकोंकी चिक डाल ली और रंगमहलमें पियको रिझा लिया। हृदयके भीतर जब प्राणवल्लभकी रूप-श्री उमड़ आयी तो आँखें उसे कैद करनेके लिये मचल पड़ीं। कई जन्मोंके भूखे-प्यासे प्राणोंने उसमें 'हाँ' भरा और फिर क्या था—

> **चढ़ी अखाड़े सुन्दरी, माँड़ा पिउसे खेल।**
> **दीपक जोया ज्ञानका, काय जरै ज्यों तेल॥**
> **नैनों अन्तर आव तूँ, नैन झाँपि तोहिं लेवँ।**
> **ना मैं देखौं औरको, ना तोहि देखन देवँ॥**

कई जन्मोंसे तुम्हें ढूँढ़ता आ रहा था। आज मेरे भाग्य खुले—तुम्हारे दर्शन हुए। अब तो मैं तुम्हें अपनी आँखोंमें बंद किये विना न रहूँगा। मुझसे अब तुम्हारा वियोग सहा नहीं जाता। आओ, इन आँखोंमें तुम्हें छिपा लूँ, झाँप लूँ। न मैं ही

और किसीको देखूँ और न तुम्हें ही दूसरेको देखने दूँ । सती नारी अपने प्राणवल्लभ पतिके हाथोंमें अपनेको सौंपकर, सर्वथा उसकी ही होकर, अपने जीवनधनपर भी एक अपूर्व अधिकारका अनुभव करती है । उसकी प्रतिपलकी यही कामना होती है कि मैं इनकी होकर रहूँ और 'ये' भी केवल मेरे ही होकर रहें । अनन्यताकी इस प्रगाढ़ विभोर अवस्थामें कबीरने 'हरि मोर पिउ मैं हरिकी बहुरिया' कहा था । 'ढाई अच्छर प्रेमका' यही है ।

जबतक विवाह नहीं हुआ होता तबतक कन्याओंका मायकेमें अटूट अनुराग रहता है । वे रात-दिन गुड़ियोंके खेलमें मस्त रहती हैं । परन्तु जहाँ कन्याके माँगमें सिन्दूर पड़ा और 'प्राणनाथ' के साथ ग्रन्थिबन्धन हुआ वहीं उसके गुड़ियोंके खेल समाप्त हो जाते हैं । सच्चे खेलमें प्रवेश करते ही झूठे खेलोंसे नाता आप-ही-आप टूट जाता है । गुड़ियोंके खेल खतम होनेपर भी मायकेसे स्नेह बना ही रहता है । वह जानती है, प्रतिपल अपने हृदयमें अनुभव करती है कि उसका 'घर' कहीं और है, जहाँ 'साजनका देश' है । अपरिचित और अनजान देशमें जानेकी कल्पनासे ही वह एक बार काँप उठती है परन्तु तुरन्त ही उसे ध्यान हो आता है—'अरे वह देश मेरे लिये अपरिचित कैसे जहाँ स्वयं मेरे प्राणाधार और जीवनसर्वस्व बसते हैं । मैं तो उनकी ही, केवल उनकी ही हूँ । वे मुझे जहाँ रक्खें, जिस प्रकार रक्खें—अपने चरणोंमें रक्खें । बस, यही परम सान्त्वना है, यही परम सुख है । उनके

चरणोंकी शरणमें जहाँ भी रहूँगी वहीं मेरे लिये सच्चा सुख है, वही मेरा अपना देश है।'

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जगमें रहैं, हरिको भूलत नाहिं॥

यह सब होते हुए भी जब 'वह' लिवाने आता है तो मायकेका प्रेम उमड़ ही आता है; माता-पिताका वियोग हृदयको रुला ही देता है। साजनके देशमें पहुँचकर भी 'संकोच' बना ही रहता है और अपनी ओरसे घूँघट सरकाये नहीं सरकता। हमारी वेबसीको हमारा प्राणाधार खूब जानता है और इसीलिये आवरण-भंग (Lifting of the Veil) का मनोहर और प्रिय कार्य उसे ही करना होता है, और वह करता भी है इसे बड़े ही आवेगपूर्ण उल्लास और उन्मद प्यारके साथ! प्राणनाथद्वारा घूँघटका पट हटना कितना सुखद, कितना मधुर है!!

मिलन-कालकी वह कोमल सलज्ज पुलक! सारा संसार जब प्रगाढ़ निद्रामें बेसुध होकर सो रहा था उसी समय प्रीतमने पैरोंकी चाप छुपाकर धीरे-धीरे हृदयका पर्दा हटाकर 'भीतर' प्रवेश किया, स्वप्नमें प्रीतम मिले। उन्होंने सोते हुए 'कबीर' को जगा दिया। एक मधुर-मधुर शीतल स्पर्शने कबीरकी आत्माको जगा दिया। रोम-रोम जाग उठे! आँखें खोलते यह भय लगता है कि कहीं 'वह' छोड़कर चला न जाय—

सपनेमें साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मति सुपना ह्वै जाय॥

आध्यात्मिक परिणय हुए विना प्रभुमें हमारा वास्तविक समर्पण हो नहीं सकता। गीताजीमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का जो वर्णन है उससे यह स्पष्ट है कि सर्वोत्म श्रीकृष्णार्पण हुए विना 'मामेकं शरणं व्रज' असम्भव है। समर्पण तो एकमात्र पत्नीका पतिमें ही होता है। अन्य सभी सम्बन्धोंमें द्वैतका पूर्णतः लय नहीं हो पाता। पत्नी अपने नाम-गोत्रको, अपनी आत्माको अपने पतिमें एक कर देती है। वह अपने शरीरपरसे भी अपना अधिकार हटा लेती है। वह समग्ररूपसे, सर्वभावेन पतिके चरणोंमें अपनेको अर्पण करती है। हृदयके समर्पणके साथ ही सर्वत्र अखण्डरूपसे 'प्राणनाथ'के दर्शन होने लगते हैं जिसकी मधुर-मधुर अनुभूतिको कबीरने यों व्यक्त किया है—

लाली मेरे लालकी, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

अहर्निशका यह मधुर मिलन हृदयके रेशे-रेशेमें ओतप्रोत है। बाहर-भीतर केवल 'प्रीतम' ही रह जाता है। आँखें मूँदकर भीतरके संसारमें, आँखें खोलकर बाहरकी दुनियामें जहाँ भी दृष्टि जाती है केवल हरि-ही-हरि रह जाते हैं। स्वयं भक्तकी निजी सत्ता भी उस अपार आनन्दराशिमें लय हो जाती है। उसे अपनी भिन्न सत्ताका कभी बोध ही नहीं होता। वह स्थिति द्वैत और अद्वैतकी भाषामें व्यक्त नहीं की जा सकती—

कबीर प्याला प्रेमका, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोममें रमि रहा, और अमल क्या खाय॥

सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त॥
प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं।
रोम रोम पिउ पिउ कहै, मुखकी सरधा नाहिं॥

आध्यात्मिक परिणयकी—जिसे हम 'ब्रह्म-सम्बन्ध' अथवा 'ब्रह्म-संस्पर्श' कहते हैं कई श्रेणियाँ (stages) हैं। सबसे पहले स्मरण (recollection) होता है। स्मरणका अर्थ है स्मृतिका ध्येयमें तद्रूप हो जाना। यह तद्रूपता धीरे-धीरे इतनी घनीभूत हो जाती है कि अन्तःकरण अपनी स्वस्थ स्वाभाविक स्थितिमें आ जाता है। उस समय निश्चलता (Quiet) प्राप्त होती है। मन प्राणप्यारेके सिवा कहीं हिलता-डुलता ही नहीं; उसे छोड़कर कहीं जाना ही नहीं चाहता। निश्चल मन प्रभुको प्राप्त कर लेता है और तभी मिलन (Union) होता है। मिलनमें आनन्दकी विभोर दशाकी अधिकता हो जाती है और भीतर-ही-भीतर निर्भरतासे मिली हुई अपूर्व उन्मत्तता (Ecstasy) का आविर्भाव होता है। यह उन्मत्तता सर्वथा अलौकिक है; यह मिलन-जन्य आनन्द एवं आत्मविस्मृतिकी विभोर दशा है। उन्मत्ततामें अपने शरीरकी सँभाल स्वयं हट जाती है और भक्त भगवान्में उसी प्रकार लय हो जाता है जिस प्रकार पानीमें रंग; दूधमें मिश्री या समुद्रमें नमक। यह स्थिति तन्मयता (Rapt) की है। यहाँ भक्तकी संज्ञा 'प्रेमी' की हो जाती है और उसे भगवान्का विरह (Pain of God) प्रसादरूपसे मिलता है। इस प्रसादको पाकर प्रेमी सर्वशून्य होकर,

निरावरण होकर एकमात्र भगवान्‌का हो जाता है। कबीरका हृदय आठों पहर इसी रसमें भिना हुआ है। यही आध्यात्मिक परिणय है।

आध्यात्मिक परिणयके अनन्तर साधककी एक बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है। उसे परमात्माके मिलनका आनन्द प्राप्त हो जाता है और उसका हृदय उसी रसमें सराबोर रहता है। वह एक पलके लिये भी उससे बाहर नहीं आता। वह संसारका तिरस्कार अथवा अनादर भी नहीं करता। जो जगत् प्राणप्यारेका बनाया हुआ है, जिसपर प्रियतमकी छाप लगी हुई है और जिसकी ओटसे 'वह' स्वयं झाँक रहा है, उस जगत्‌के प्रति अश्रद्धाका भाव कैसे और क्यों हो? प्रियकी सभी वस्तुएँ प्यारी होती हैं। हर समय और हर स्थानमें साधक अपने 'देवता' की मधुर उपस्थिति (Divine presence) का अनुभव करता है और इस अनुभूतिमें ही वह सुध-बुध खोकर माता-माता फिरता है। प्रेमके इसी अमृतको पीकर मंसूर हँसते-हँसते सूलीपर लटक गया और मीरा जहरका प्याला भगवान्‌का चरणामृत समझकर पी गयी!

भगवान्‌के विरहका रस मिलनके आनन्दसे कुछ कम सुखकर नहीं है। सगुण भक्तों और निर्गुण संतोंने समानरूपसे प्रभुके विरहकी अनुभूतिमें अपनी आत्माको उज्ज्वल किया है। विरह प्रेमकी जाग्रत् अवस्थाका नाम है। प्रेमीसे यह सहा नहीं जाता कि उसका प्रेमपात्र एक क्षणके लिये भी उससे अलग रहे। बार-बार हृदय विरहकी ज्वालामें जा पड़ता है, इस ज्वालामें ही, प्रभुकी स्मृतिमें ही उसे एक सुखद शान्ति मिलती है! विरहकी

इस अवस्थाको भूलसे 'दुःख' कहा जाता है। वह 'दुःख' कैसे, जिसमें बार-बार हृदय चला जाय और जहाँ पहुँचकर ही जीकी तपन बुझे! विरहकी यह ज्वाला ही भक्तोंका अमृतपान है। प्रेमी बार-बार अपनी ओर देखता है और अपनेमें प्रेमका अभाव अनुभव करता है। वह अनन्यता, वह सर्वात्मसमर्पण जो भक्तको प्रभुके चरणोंमें पहुँचा देता है उसको अपने भीतर न पाकर भक्तका हृदय रो उठता है—

> कै विरहिनको मीच दे, कै आपा दिखलाय।
> आठ पहरका दाझना, मोपै सहा न जाय॥
> हिरदे भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय।
> जाके लागी सो लखै, कै जिन लाई सोय॥

विरहकी वह ज्वाला अमृतमयी है क्योंकि इसमें 'पिय-मिलनकी आस' बराबर है। मिलनकी विह्वल प्रतीक्षामें विरहकी ये घड़ियाँ भी सुखकर ही हैं। 'पति' से मिलनेके लिये कबीरका साधक हृदय कराह उठता है—

> येहि तनका दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
> लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

इस शरीरका दीपक बनाऊँ, जीवको बत्ती करूँ और लोहूका तेल जलाऊँ यदि 'पिय' के मुख देखनेको मिले। त्रुटियों, दुर्बलताओं और अपराधों तथा विकारोंसे भरे अपने जीवनपर जब ध्यान जाता है तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि अभी तो सौ-सौ जन्मोंमें भी 'हरि' के दर्शन दुर्लभ हैं। 'मैं मैली पिउ ऊजलो, मिलना कैसे होय' का भाव कबीरमें बहुधा आया है—

आय सकौं नहिं तोहिपै, सकौं न तुज्झ बुलाय।
जियरा यौं लय होयगा, बिरह तपाय तपाय॥

'ओदी लकड़ी' की तरह कबीरका हृदय धुँधुआ रहा है और दर्शनके प्यासे नैन—

बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दोउ नैन।
माँगे दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥

विरहमें मिलनकी जो आशा है वही प्राणोंका आधार है। बार-बार पियका स्मरणकर भक्त रो उठता है। रोनेसे ही हृदय कुछ हलका होता है और जीकी तपन बुझती है—

कबीर हँसना दूर करु, रोनेसे करु चित्त।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥
हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिउ मिलैं, तो कौन दुहागिन होय॥

यह सारा श्रृङ्गार, सभी साज-बाज व्यर्थ गये यदि पतिसे भेंट न हुई। सौन्दर्य, श्रृङ्गार तथा सजावटकी सफलता तो तभी है, जब 'साईं' की आँखें इनपर पड़ें; जब प्रभुसे मिलन हो—नहीं तो ये सभी व्यर्थ ही हैं—

चूड़ी पटकौं पलँगसे, चोली लावौं आगि।
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गल लागि॥

तन धारण करनेकी सफलता तो हरि-मिलनमें ही है—यदि यह न हुआ तो इन चूड़ियों और चोलीमें आग लगे! वह श्रृङ्गार किस कामका जो प्रभुके मिलन-सुखसे वञ्चित रहे। यही है—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'!

यह विरह ही प्रभुको मिलानेवाला है। यह विरह ही सच्चा मिलन है। एक क्षण भी 'साईंकी याद' भूलती नहीं और रोम-रोममें उसीकी छवि, उसीकी स्मृति छायी रहती है। कबीरने विरह-जन्य आत्मविस्मृतिकी उस दशाको, जिसमें साजनके सिवा कुछ रहता ही नहीं—बहुत ही सुन्दर ढंगसे रक्खा है—

कबीर रेख सिंदूर अरु, काजर दिया न जाय।
नैनन प्रीतम मिलि रहा, दूजा कहाँ समाय॥
आठ पहर चौंसठ घड़ी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तूँ बसै, नींदको ठौर न होय॥
पतिबरता तब जानिये, रतिउ न उघरै नैन।
अंतरगति सकुची रहै, बोलै मधुरे बैन॥

आँखोंमें प्रीतमकी छवि भरी हुई है, काजलकी रेखा उसमें कैसे अँटे? आठों पहर चौसठों घड़ी जब हरिके सिवा कोई रहा ही नहीं तो फिर नींद निगोड़ी कैसे आवे? सच्ची पतिव्रता तो वह है जो एक क्षणके लिये भी संसारपर आँखें नहीं डालती। वह तो अहर्निश आँखें बंद करके प्रभुके रसमें डूबी रहती है।

उस अमर सनातन सत्ताके स्पर्शमें आ जानेपर मानवका लौहजीवन सोना बन जाता है। इसकी हलकी झाँकी कबीरके इस पदमें है—

रस गगन गुफामें अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै॥
बिना ताल जहँ कमल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै, जहँ तहँ हंसा नजर परै॥

दसवें द्वारे तालो लागी, अलख पुरुख जाको ध्यान धरै ।
काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै ॥
जुगन जुगनकी तृषा बुझानी करम भरम अघ व्याधि टरै ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै ॥

अन्तर और बाहर जब सब कुछ प्रभुके प्रकाशसे जगमग-जगमग हो उठा, जब सर्वत्र अबाधरूपसे मधुर मिलनकी प्रक्रिया होने लगी तो फिर कबीरने डंकेकी चोट कहा—

हिरदेमें महबूब है, हरदमका प्याला ।
पीवेगा कोई जौहरी गुरुमुख मतवाला ॥
पियत पियाला प्रेमका, सुधरे सब साथी ।
आठ पहर झूमत रहै, जस मैगल हाथी ॥
धरती तो आसन किया, तंबू असमाना ।
चोला पहिरा खाकका रह पाक समाना ॥

इसीको मीराने 'लीन्ह बजंता ढोल' कहा है । मैंने तो डंकेकी चोट प्रभुको पा लिया । मीराकी यह मधुर अनुभूति श्रीगिरधारीलालकी मधुर मूर्तिमें एकाकार हो गयी है । कोई कुछ भी कहे, मीरा तो यह प्रत्यक्ष अनुभव कर रही है कि उसका प्राणेश्वर निरन्तर उसके नेत्रपाशमें बँधा है, हृदयके मन्दिरमें खड़ा-खड़ा हँस रहा है ।

अपने परम प्रियतमको एक बार भी देख लेनेपर फिर नैहरका मोह स्वयं मिट जाता है और एक क्षणका भी उसके बिना रहना दूभर हो जाता है । बार-बार प्राणप्यारेके देशका स्मरण हो आता है—

नैहरवा हमकों न भावै ।
साईंकी नगरी परम अति सुंदर
जहाँ कोइ जाय न आवै ॥
चाँद सुरज जहाँ पवन न पानी
को सँदेस पहुँचावै ।
दरद यह साईंको सुनावै ॥

परम प्रेमके मधुर पानके लिये यह आवश्यक है कि जगत्‌की इस दीख पड़नेवाली भिन्नता तथा अनेक नाम-रूपमें छिपे हुए एक परमात्मज्योतिसे साक्षात्कार हो । खण्ड, सीमा, परिवर्तन, मृत्यु, हाहाकार और विनाशके पार 'प्रीतमकी नगरी' है और इन दीख पड़नेवाली भिन्नताओंको पार करके ही वहाँ जाया जा सकता है, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता । कबीरकी साधनामें इस संसारके प्रति अटूट दृढ़ अजेय वैराग्य है जो उन्हें संसारमें विरमने नहीं देता और उन्होंने इसीके बलपर साईंके देश पहुँचकर, साजनकी अटारीपर पौढ़ते हुए कहा है—'अब हम अमर भये न मरेंगे ।'

जायसीकी प्रेमानुभूति

जायसी एक बहुत ही ऊँचे महात्मा हो गये हैं। वे सूफ़ी फकीर थे। एक कम्बल लपेटे रहते थे। जो कुछ किसीने दे दिया उसीमें मस्त रहते थे। कोढ़ीके रूपमें भगवान्‌ने जायसी-को दर्शन दिये। इस दर्शनकी कहानी बड़ी विचित्र है। जायसी कभी अकेले भिक्षान्न भी नहीं खाते थे। जो कुछ मिलता था उसमेंसे दो-एक साधु-फकीरोंको भोजन करा लेते थे, फिर जो कुछ बचता था उसे ही प्रसादरूपमें ग्रहण करते थे। एक बार एक जंगलमें नदी-तटपर भिक्षाका अन्न लेकर जायसी बैठे थे। वे किसीकी बाट जोह रहे थे। इतनेमें एक कोढ़ी सामनेसे गुज़रा। जायसीने उसे पुकारा। पास आनेपर जायसीने देखा कि इसके

शरीरसे रक्तपीब बह रहा है और मक्खियाँ भन्ना रही हैं। परन्तु जायसीके मनमें तनिक भी घृणा नहीं हुई। उन्होंने भिक्षाके अन्नको 'अतिथि' के सामने रख दिया। रक्त और पीबसे आप्लावित शेषांशके पीनेकी बारी आयी तब जायसीने हठपूर्वक अपने आप ही पीना चाहा। ज्यों ही उन्होंने उसको अपने मुँहसे लगाया उक्त कोढ़ी आँखोंसे ओझल हो गया। विस्मयसे भरे हुए जायसी बोल उठे—

> बुंदहिं सिंधु समान, यह अचरज कासों कहौं।
> जो हेरा सो हेरान, 'मुहमद' आपै आप महँ॥

परमात्माके प्रेमको प्राप्तकर जायसी बस मस्त होकर जंगलोंमें घूमा करते थे। वे प्रेमकी पीरमें बेसुध रहते थे। उस समयकी उनकी स्थितिका पता नीचेकी कुछ पंक्तियोंमें मिल सकता है—

> सुख भा सोच एक दुख मानूँ। वहि बिन जीवन मरन कै जानूँ॥
> नैन रूप सों गयेउ समाई। रहा पूर भर हिरदय छाई॥
> जहँवै देखौं तहँवै सोई। और न आव दिष्टतर कोई॥
> आपन देख देख मन राखौं। दूसर नाँव सो कासों भाखौं॥

प्राणनाथके बिना यह जीवन मृत्युके समान है। मेरी आँखोंमें वह परमात्मज्योति अपनी अमित छबिके साथ समा गयी और हृदयको उसने छा लिया। अब जिधर भी दृष्टि जाती है वही वह दीखता है, मेरी दृष्टिकी सीमामें और कोई आता ही नहीं। 'उस' में अपना 'सर्वस्व' देख-देखकर मनमें ही जुगाये रखता हूँ फिर दूसरेका नाम क्यों लूँ, दूसरेकी चर्चा क्यों करूँ ?

जायसी बड़े ही कुरूप थे। उनकी एक आँख शीतलाके कारण चली गयी थी। एक बार अमेठीके राजाने जायसीका नाम सुनकर उन्हें अपने राज्यमें बुलवाया। जायसीकी कुरूपता देखकर वे हँस पड़े। इसपर जायसीने कहा—

मटियहिं हँससि कि कोंहरहि।

अर्थात् आप मेरी इसी मिट्टी (शरीर) को हँस रहे हैं या इसके बनानेवाले कुम्हार (परमात्मा) को? राजा लज्जित हो गये।

जायसी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है एक पहुँचे हुए सूफ़ी फकीर थे। सूफ़ी मतमें परमात्माकी प्रियतमके रूपमें उपासना की जाती है। सूफ़ी मत और हमारे 'माधुर्यभाव' में बहुत अधिक समानता है। जायसीके लिये संसारकी सब वस्तुएँ, संसारके सारे व्यापार, परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध चरितार्थ कर रहे थे—यह समस्त प्रकृति उस 'परमपुरुप' से मिलनेके लिये अहर्निश व्याकुल है। जायसीने अपने हृदयके भीतर उस परमपुरुषको अलौकिक रूप-आभाको देखा जिसकी ज्योतिसे अनन्त ब्रह्माण्ड जगमग कर रहे हैं—

देख्यों परमहंस परिछाहीं। नयन जोति सो बिछुरत नाहीं॥

मैंने परमहंस (परमात्मा) की अमर शीतल छायाको स्पर्श किया। अब वह ज्योति एक क्षणके लिये भी आँखोंसे बिछुड़ती नहीं। संसारमें जो कुछ भी 'सुन्दर' प्रतीत होता है वह परमात्मा-की सुन्दरताकी छायामात्र है—'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति'।

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

सरोवरमें चारों ओर जो कमल दिखायी पड़ रहे थे वे उस (परमपुरुष) के नेत्रोंके प्रतिविम्ब थे; जल जो इतना स्वच्छ दीख पड़ता था वह 'उस' के स्वच्छ निर्मल शरीरके प्रतिविम्बके कारण; उसके हासकी शुभ्र कान्तिकी छाया वे हंस थे जो इधर-उधर दिखायी पड़ते थे और उस सरोवरमें जो हीरे थे वे उसके दाँतोंकी उज्ज्वल दीप्तिसे उत्पन्न हो गये थे। इतना ही नहीं—

रवि ससि नखत दियहि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, रत्न, पदार्थ, माणिक्य, मोती सभी कुछ उसी एककी ज्योतिके कारण ही प्रकाशमान हैं।

प्राणप्रिय हृदयमें ही बसता है परन्तु उसके दर्शन नहीं हो पाते। यह दुःख किससे रोया जाय ?—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥

विरहकी जो अधीर दशा है वह बहुत ही करुण और दारुण है-—

बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातक भइउँ कहत पिउ पीऊ॥
जरिउँ विरह जस दीपक बाती। पथ जोवत भइँ सीप सेवाती॥
भइउँ विरह दहि कोइल कारी। डारि डारि जिमि कूकि पुकारी॥
कौन सो दिन जब पिउ मिले, यह मन राता जासु।
वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु॥

जायसी उस दिनकी तीव्र प्रतीक्षामें है जब प्राणाधार आकर स्वयं उसे गले लगा लेगा और वह दो टुक उससे बातें कह सकेगा,

अपने हृदयकी व्यथाको सुना सकेगा। 'उस' के मिलनेपर तो—

तौं लौं रहौं झुरानी, जौं लौं नाव सो कंत।
एहि फूलि गुहि सेंदुर, होइ सो उठै वसंत॥

इसी फूल (शरीर) से जिसे तुम इतना कुम्हलाया हुआ कहते हो, और इसी सिन्दूरकी फीकी रेखसे जो रूखे सिरमें दिखायी पड़ती है फिर वसन्तका विकास और उत्सव हो सकता है यदि 'पति' आ जाय।

मङ्गलमिलनके मन्दिरमें प्रवेशकर जब जायसी अपने हृदय-धनसे मिलते हैं तो एक अपूर्व आनन्दकी विस्मृतिमें अपनेको खो देते हैं। अपनी स्थितिका जब हलका-सा ज्ञान हो जाता है तो एक अपूर्व असमंजसका अनुभव करते हैं—

रहौं लजाइ तो पिउ चलै, कहौं तो कहु मोहि ढीठ।

मिलनकी इस मधुर मङ्गलवेलामें यदि मैं लज्जित होकर घूँघट सरका लूँ तो पिय रूठकर चला जाय और मैं हाथ मलती रह जाऊँ, और यदि जरा घूँघटको उठाकर उसके चरणोंको जोरसे पकड़ लूँ तो मुझे वह ढीठ ही समझेगा। असमंजसकी यह मधुर स्थिति कितनी कोमल, कितनी जादूभरी है; जिसका थोड़ा-बहुत अनुभव प्रत्येक भक्तको होता होगा। वास्तवमें 'उसे' पकड़ते भी नहीं बनता, न छोड़ते ही बनता है।

'पति' के घर जानेमें पहले तो बड़ी झिझक, सङ्कोच और लज्जा होती है। परन्तु जब एक बार घूँघट हटकर 'पति' का साक्षात्कार हो जाता है तो समग्र हृदय वहाँ उसके चरणोंमें आप-

ही-आप निछावर हो जाता है और फिर एक क्षणका वियोग भी असह्य हो जाता है। जबतक प्राणनाथसे 'परिचय' नहीं तभीतक मायकेसे प्रेम और ससुरालसे विराग है। इस मायकेमें रहना भी कै छन है?

छाँड़िउ नैहर, चलिउँ बिछोई। एहि रे दिवस कहँ हौं तव रोई॥
छाँड़िउ आपन सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली॥
नैहर आइ काह सुख देखा। जनु होइगा सपनेकर लेखा॥
मिलहु सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं॥
हम तुम मिलि एकै सँग खेला। अंत बिछोह आनि जिउ मेला॥

इस संसारसे जो हमारा अनुराग और आसक्ति है वह ठीक वैसा ही है जैसा कन्याओंका मायकेसे। परन्तु हमारा सच्चा और अपना देश तो 'साजनका घर' ही है। जब हम सच्चे रूपमें अपने 'हृदयधन' को पहचान लेंगे तो हमारी इस संसारमें जो आसक्ति है वह तो मिट ही जायगी, साथ ही हमें 'उस' के सिवा कुछ अच्छा लगेगा ही नहीं। यह भाव कबीर और दादू तथा अन्यान्य निर्गुणिये संतोंमें बहुत अधिक आया है।

यहाँ, इस पृथ्वीपर हमारा जितने दिनका रहना है वह 'प्रियतम' के विरहमें ही बीत रहा है। विरहका यह ताप बड़ा ही मधुर होता है इसे जो 'दुःख' नामसे पुकारते हैं वे विरहके रससे परिचित नहीं हैं। विरहका ताप मधुर इसलिये है कि उसमें प्रीतमकी स्मृति है, उसमें स्वयं 'साजन' की मूर्ति विलसती रहती है। जायसीने इस माधुर्यको बड़े ही अनूठे ढंगसे रक्खा है—

लागिउँ जरै जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, तजिऊँ न बारू॥

भाड़की तपती वालूके बीच पड़ा हुआ अनाजका दाना जैसे बार-बार भूने जानेपर उछल-उछल पड़ता है पर उस बालूसे बाहर नहीं जाना चाहता, उसी प्रकार इस प्रेमजन्य संतापके अतिरेकसे मेरा जी हट-हटकर भी उस संतापके सहनेकी बुरी लत-के कारण उसीकी ओर प्रवृत्त रहता है। मतलब यह कि वियुक्त प्रियका ध्यान आते ही चित्त तापसे विह्वल हो जाता है फिर भी वह बार-बार उसीका ध्यान करता रहता है। प्रेमदशा चाहे घोर यन्त्रणामय हो जाय, पर हृदय उस दशासे अलग होना नहीं चाहता। विरहकी इस दारुण यन्त्रणामें—

हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

जो अणु-अणुमें व्याप्त है, जो हर समय हमें भीतर और बाहर दोनों ओरसे देख रहा है उससे मिलनेके लिये क्या शृङ्गार किया जाय ? फिर भी भक्तका मन तो मानता नहीं और इसी हेतु 'उस' के निमन्त्रणपर 'तन मन जोबन साजिकै, देइ चली लेइ भेंट' समागमकी उत्कण्ठा या अभिलाष इतना तीव्र है कि अपने शरीर, मन और यौवनको सजाकर भेंटमें देनेके लिये भक्त चला। लेकिन तुरन्त ही अपनी बालबुद्धिपर दृष्टि जाती है और वह सोचता है—

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ। ओही देखहुँ ठावहि ठाऊँ॥
जौ पिउ महँ तौ उहै पियारा। तन मनसौं नहिं होहि नियारा॥
नैन माँह है उहै समाना। देखौं तहाँ नाहिं कोउ आना॥

शृङ्गार करके उसके पास क्या जाऊँ ? उसे ही तो सर्वत्र देख रही हूँ। पिय तो प्राणोंमें बसा हुआ है। वह शरीर और मनसे भिन्न कैसे हो भी ? आँखोंमें वही समाया हुआ है, जहाँ दृष्टि जाती है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ दीखता ही नहीं। उसके बाणोंसे समस्त संसार बिंधा हुआ है। कोई स्थान उससे खाली नहीं है।

जिस प्रकार हमारे यहाँ कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञान-काण्ड तथा सिद्धावस्था है उसी प्रकार सूफ़ी लोग भी साधककी चार अवस्थाएँ मानते हैं—शरीअत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारफ़त। सूफ़ी मतमें ब्रह्मकी भावना अनन्त सौन्दर्य और अनन्त गुणोंसे सम्पन्न प्रियतमके रूपमें करते हैं। सूफ़ियोंका 'अनलहक' हमारे 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही बोधक है। सर्वात्मसमर्पणके अनन्तर भक्तका भगवान्में लय हो जाता है, वह तद्रूप, तदाकार, एक और अभिन्न हो जाता है। इस प्रलयावस्थाका सूफ़ी धर्ममें बहुत विस्तारसे वर्णन मिलता है—

'फ़ना'—वह स्थिति है जिसमें साधक अपनी अलग सत्ताकी प्रतीतिसे परे हो जाता है। इसके बाद 'फ़क़द' की अवस्था है जिसमें अहंभावका सर्वथा नाश हो जाता है। 'सुक्र' अथवा प्रेममदकी स्थिति वह है जिसमें साधक अपनी निजी सत्ताको खोकर सर्वदा और सर्वत्र अपने 'प्रीतम' को ही देखता है और उसी अमर दिव्यप्रेममें माता-माता फिरता है। यह तो त्यागपक्षकी साधना-प्रणाली है। प्राप्तिपक्षसे इसी बातको दूसरे ढंगसे व्यक्त

किया जाता है—'बक़ा'—वह स्थिति है जिसमें साधक परमात्मामें ही अखण्ड विश्वास और श्रद्धा रखते हुए उसी 'एक' में निवास करने लगता है। इसके बाद उसे परमात्माकी प्राप्ति होती है जिसे सूफ़ी लोग 'वस्ल' कहते हैं और अन्तमें है 'शक़' अर्थात् पूर्ण शान्ति।

प्रेमका यह पथ जितना ही सरल प्रतीत होता है वास्तवमें वह उतना ही कठिन है। यह तो सिरका सौदा है। यह पथ तो 'सीस उतारै भुईं धरै, तापर राखै पाँव' का है, इसमें 'मैं' और 'हरि' एक साथ नहीं रह सकते। हरिको पानेके लिये 'मैं' का लोप करना ही होगा।

आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि बिचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥

अपनेको खोनेपर ही पिय मिलेंगे। यदि उस प्राणाधारको ही खो बैठे तो सब कुछ उसीके साथ गया! फिर मनमें समझ-बूझकर क्यों न अपनेको खोकर हरिको पा लें? परन्तु इस प्राप्तिके लिये मन और तनको दर्पणकी भाँति निर्मल कर लेना पड़ेगा। जब हमारा मन दर्पणके समान स्वच्छ हो जायगा तो साईंकी छवि उसमें आप-ही-आप उतर आयगी—

तन दरपन कहँ साजु, दरसन देखा जो चहै।
मन सौं लीजिय माँजि, 'मुहमद' निरमल होइ दिया॥

काम, क्रोध, तृष्णा, मद और मायाको जायसीने दर्पणकी मैल बतलाया है। इनके हट जानेपर अन्तस्तल ऐसा निर्मल हो जायगा कि उसमें स्वयं हरिजी आ विराजेंगे।

कमी तो अपनी ही ओर है। 'प्राणनाथ' को देखना तो हमें ही स्वीकार नहीं है। यदि सच्ची लगन हो तो एक क्षण भी उसके विना रहना दूभर हो जाय। 'वह' तो स्वयं मिलनेके लिये राह रोके खड़ा है। हम बार-बार उसके अपार प्रेम और अमित आकर्षणको ठुकराकर उसकी ओर पीठ फेर लेते हैं। वह बार-बार प्रतिपल हमें अपने आलिङ्गनपाशमें बाँध लेनेके लिये उत्सुक है परन्तु हम ही दुनियाको छातीसे चिपकाये हुए हैं और घूँघटके पटको हटाना नहीं चाहते। उससे मिलने, उसे रू-बरू देखनेकी उत्कट चाह तो हमारे हृदयमें पहले होनी चाहिये; उसे अपनानेमें क्या विलम्ब लगेगा? मायाके घूँघटको हटाकर और हृदयकी ज्ञान-रूपी आँखें खोलकर देखनेपर तो 'वह' यहीं और अभी मिल जाय, क्योंकि—

> दूध माँझ जस घीउ है, समुद माँझ जस मोति।
> नैन मींजि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति॥

दूधमें जैसे घी है और समुद्रमें जैसे मोती है उसी प्रकार आँखोंको ठीकसे खोलकर देखा जाय तो प्राणाधार हरि की ज्योति झलक उठे!

महात्मा चरनदासजी

समस्त चराचर परमात्माका साकार स्वरूप है । इस समस्त अभिनयका वह एक सूत्रधार अपनी लीलाओंका झीना आवरण डालकर पर्देमें मुसकरा रहा है । उस सनातन दिव्य सत्ताके स्पर्शमें आ जाना, उसे सर्वत्र और सर्वदा अनुभव करना ही मानव-जीवनका चरम उद्देश्य है । यही अनात्मसे आत्ममें प्रवेश करना है और इसे ही कहते हैं आत्मसाक्षात्कार ।

उपनिषदोंने 'आत्मानं विद्धि'—'अपनेको जानो' को ही डंकेकी चोट कहा है । हमारे ऋषि-मुनियोंने भी बार-बार इसे ही दुहराया है । भगवान्से यदि परिचय नहीं हुआ तो यह जन्म व्यर्थ गया । साँस-साँसमें 'साईं' का स्मरण न हुआ तो संसारमें

आना बेकार हुआ। यही ऋषि-मुनि, संत-महात्माओंने बार-बार सुझाया है! भगवान्‌के सिवा सार वस्तु कोई है नहीं। 'हरि' से हृदयका ग्रन्थिबन्धन न हुआ तो जीवनसे क्या लाभ? 'सब तज हरि भज'—यही महात्माओंका उपदेश है। भारतवर्षकी मूल साधना यही रही है। संतोंने अपने भीतर भगवान्‌की झाँकी पायी और समस्त चराचरमें उसी एक परमात्मसत्ताका साक्षात्कार किया। इस अमृतमन्थनसे जो कुछ उन्हें मिला वे 'प्रसाद' रूपमें छोड़ गये। हम उस प्रसादको पाकर अपना जीवन धन्य कर सकते हैं।

महात्मा चरनदासजी उन्हीं आत्मदर्शी संतोंमें हैं जिन्होंने परमात्माके परिचयमें ही अपना सारा जीवन लगाया। मेवात (राजपूताना) के डेहरा गाँवमें इनका जन्म १७६० वि० सं० के लगभग हुआ था। वे गृहस्थ वैश्य थे और उन्होंने दिल्ली तथा पंजाबमें अपने मतका प्रचार किया था। आज चरनदासी पन्थ भारतवर्षके कई हिस्सोंमें फैला हुआ है वह इन्हींका है। इनकी प्रधान दो शिष्याएँ थीं—सहजो और दया। कहते हैं कि उन्नीस वर्षकी अवस्थामें महात्मा चरनदासजी जंगलमें एकान्त तपस्या कर रहे थे। उसी समय श्रीशुकदेवजीने इन्हें दर्शन दिये और मन्त्र दिया। अपने पदोंमें भी गुरुके रूपमें इन्होंने श्रीशुकदेव मुनिका स्मरण किया है। इनके मतमें 'शब्द-मार्ग' बहुत प्रचलित है। योग, ध्यान आदिकी बातें प्रमुखरूपसे इनके सम्प्रदायमें पायी जाती हैं। महात्मा चरनदासजीने अपनी बानीमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और आशाको सर्वथा परित्याग करनेका उपदेश किया

है क्योंकि इनका यह दृढ़ विश्वास है कि इन शत्रुओंको जीते बिना साधना हो नहीं सकती। अस्तु !

साधनाके आरम्भमें संसारके नाना उपद्रव बड़े ही विकराल-रूपमें आते हैं। ज्यों ही मन संसारसे हटकर भगवान्‌में लगने लगता है त्यों ही संसार घेर लेता है। संसारसे छुटकारा हुआ नहीं फिर मन प्रभुमें कैसे लगे ? यह संग्राम ही साधनाकी सबसे विकट समस्या है। सच्चा शूर तो वही है जो इन प्रमत्त शत्रुओंपर शासन स्थापित कर सके। साधकका यह संग्राम यों तो चलता है जीवनपर्यन्त परन्तु आगे चलकर जब गुरुका सहारा और भगवान्‌का आश्रय प्राप्त हो जाता है तब उसे कुछ सुगमता हो जाती है। साधनाके पथमें गुरुका सहारा अनिवार्य है। 'बिन गुरु होंहि न ज्ञान'—सनातन सत्य है। गुरुकी शरणमें जानेपर ही अनात्मका साथ छूट सकता है। गुरु हृदयकी आँखें खोलकर हमें भगवान्‌के साथ जोड़ देता है, मिला देता है। गुरु ही भगवान्‌द्वारा हमारा 'पाणिग्रहण' कराता है। महात्मा कबीरदासने तो गुरु और गोविन्द दोनोंको सामने देखकर पहले गुरुके ही चरणोंमें अपनेको बलिहार किया है क्योंकि गुरुकी कृपासे ही गोविन्दके दर्शन हुए। गोस्वामी तुलसीदासजीने 'श्रीगुरु-पद-नख मनि-गन-ज्योति' से अपने हृदयको जगमग किया और उनका यह अटल विश्वास है कि श्रीगुरुके चरण-कमलोंके स्मरणमात्रसे ही हृदयकी दिव्य दृष्टि खुलती है। गुरुके चरण-नखकी द्युतिसे महा अन्धकार भी छिन्न-भिन्न हो जाता है और जिसके हृदयमें श्रीगुरुचरणोंका स्मरण है वह

वास्तवमें बड़भागी है। गुरुके चरणोंकी कृपासे ही हृदयकी विमल आँखें खुल सकती हैं और जब वे आँखें खुल गयीं तो संसाररूपी रात्रिका दोष और दुःख आप ही मिट गया; जन्म-मरणका बन्धन आप ही छिन्न-भिन्न हो गया।

महात्मा चरनदासजीने गुरुकी महिमा गायी है, और गुरुके चरणोंमें अपना हृदय अर्पण किया है। चरनदासी पन्थमें तो गुरुचरणोंका आश्रय लेना ही सर्वोच्च साधन है। सहजो और दया तो गुरुका गुणानुवाद गाते-गाते कभी थकीं ही नहीं। महात्मा चरनदासजीका तो कहना है कि तीनों लोकमें ढूँढ़ आया परन्तु गुरुके समान कोई न दीखा क्योंकि उनके नाममात्रसे सब पाप मिट जाते हैं और उनका ध्यान करनेसे हरिका साक्षात्कार होता है, गुरुके प्रतापसे ही संसारकी समग्र व्याधियाँ मिट सकती हैं और हृदयमें अथाह प्रेम उपजता है। इस हाड़-मांसके पुतलेको गुरुने साधनमार्गमें लगाकर धन्य कर दिया। जबसे गुरु श्रीशुकदेव मुनिने कृपा की और मुझे दर्शन दिये तबसे रोम-रोममें वे ही रम रहे हैं।

मैं मिरगा गुरु पारधी, सबद लगायो बान।
चरनदास घायल गिरे, तन मन बीधे प्रान॥

'गुरुने शब्दके बान साधकर मुझ मृगपर छोड़ा। मैं घायल होकर गिर पड़ा। मेरे तन, मन, प्राण उस बानसे बिँध गये।' महात्मा कबीरदासने भी कहा है—

हौं हिरनी पिय पारधी हो, मारे सबदके बान।
जाहि लगी सो जानही हो, और दरद नहिँ जान॥

गुरुके तीरसे जबतक हृदय घायल नहीं हुआ, जबतक अन्तर्दृष्टि खुली नहीं तबतक हरिके दर्शन कैसे हों? सद्गुरुकी कृपासे ही चौरासी लाख योनियोंमें भटकना बंद होगा। गुरुके चरणोंका आश्रय पा लेनेपर जगत्के विषयोंसे जो हमारा संग्राम चल रहा है वह स्वयं मिट जाता है और हमारी सारी शक्ति जो विषयोंको जीतनेमें लगी थी, परमात्मचरणोंमें वेगवती होकर चलती है। जिसने मनको जीत लिया उसका तो आधा काम हो गया, अब तो जीते हुए मनको भगवान्में लगाना ही बाकी रहता है; और मन अचञ्चल होकर लगता भी है पूर्णतः भगवान्में ही।

भगवान्की झाँकी पानेके लिये हृदयको निर्मल दर्पणके समान बनाना होगा। हृदय पवित्र हो और भगवान्की ओर हो तभी हरिके दर्शन होंगे। साधनाका प्रधान धर्म है ईश्वरोन्मुख होना। समग्र कर्म, सभी व्यापार, समस्त जीवनका प्रतिपल, हृदयका रेशा-रेशा, शरीरका रोम-रोम श्रीकृष्णार्पण होना चाहिये। साधक तो केवल अपनेको ही नहीं अपितु समग्र विश्व, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डको प्रभुके चरणोंमें अर्पण कर देता है। उसके लिये अपना जीवन और यह विश्व 'निर्माल्य' है। समग्र श्रीकृष्णार्पण प्रभुकी प्रेरणासे ही सम्भव है। परन्तु एक बात तो हम करते रहें—सदैव, अहर्निश, सोते-जागते, उठते-बैठते भगवत्स्मरण स्वाभाविक-रूपमें होता रहे। संसारके विषयोंसे मुख मोड़कर हमारी सभी इन्द्रियाँ भगवान्को ही विषय करें। मन प्रभुका मनन करे, कान

हरिगुणगान सुनें, जीभ भगवान्‌का गुणानुवाद गावे, आँखें हरिकी मूर्ति और संतोंका दर्शन करें, हाथ हरिके चरणोंका स्पर्श करें और पैर तीर्थोंमें घूमें। सच्चा स्मरण तो करना नहीं होता। प्रियतम तो रोम-रोममें छाये हुए हैं; हृदयके सिंहासनपर विराजमान हैं; भीतरकी आँखें खोलकर और आवरण हटा देनेपर हरिकी जब झाँकी मिल गयी तो उसके स्मरण बिना एक क्षणके लिये भी कल नहीं। प्रियतमका स्मरण तो प्राणोंका प्रधान अवलम्बन है हो। स्मरण किये बिना प्राण टिक नहीं सकते। यही स्मरण सच्चा स्मरण है—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

महात्मा चरनदासजी भी ऐसे ही स्मरणकी चर्चा करते हुए लिखते हैं—

सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमनके माँहिं।
अनन्य भक्त वह जानिये, सुमिरन भूलै नाहिं॥

सहज स्मरण होते-होते समस्त वृत्तियाँ जब प्रभुमय हो गयीं तो हृदयका दर्पण स्वतः उज्ज्वल हो गया और हरिकी तस्वीर समग्ररूपसे उतर आयी। व्यक्तिगत जीवनमें यही भगवान्‌का अवतार है। लोगोंकी दृष्टिमें श्रीराम और श्रीकृष्ण भले ही ओझल हो गये हों परन्तु संत-महात्मा तो आज भी पूर्ववत् उनका दिव्य दर्शन करते हैं। उनके लिये भगवान्‌का जो प्राकट्य हुआ था वह सनातनकालके लिये। संतोंके लिये तो आज भी भगवान्‌का दिव्य

विग्रह साक्षात्कारका विषय है। हम सांसारिक पुरुष जितना ठोस इस जगत्को समझे हुए हैं उससे भी अधिक विश्वास और प्रतीति उन महात्माओंको परमात्माके दिव्य दर्शनमें है। अस्तु!

महात्मा चरनदासजीने स्मरण और 'लौ' के सम्बन्धमें चर्चा करते हुए कहा है—

जग माँही न्यारे रहौ, लगे रहौ हरि-ध्यान।
पृथवीपर देही रहै, परमेसुरमें प्रान॥

शरीरसे संसारमें रहते हुए भी मनसे हम भगवान्में रह सकते हैं। आवश्यकता है प्राणोंको प्रभुमें होम कर देनेकी। प्रभुके रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे जब प्राण ओतप्रोत हो गये तब बाकी ही क्या रहा?

सारी साधनाका मूल है प्रेम। प्रेम नहीं हुआ तो जप, तप, पूजा, पाठ किस कामका? दर्शन तो प्रेम ही करा सकता है। प्रेमके द्वारसे ही प्रभुके मन्दिरमें प्रवेश होता है। समस्त साधन—जप, तप आदि हृदयमें प्रेम उत्पन्न करानेके लिये ही हैं। प्रभुके लिये हृदयमें प्रेमका जब उदय हो गया तब क्या पूछना? प्रेम तो पारसमणि है—वह समस्त साधनोंको, सम्पूर्ण जीवनको 'सोना' बना देता है। प्रेम ही श्रीकृष्णार्पणका एकमात्र साधन है। महात्मा चरनदासजीने इस प्रकारके भगवत्प्रेमकी प्रशंसा करते हुए कहा है—

हिरदै माहीं प्रेम जो, नैनों झलकै आय।
सोइ छका हरि रस पगा, वा पग परसों धाय॥

हृदयमें प्रभुका प्रेम उमड़ पड़ा और आँखोंमें झलक उठा। वही हृदय हरिके रसमें पगा है, वे ही आँखें उस अमृतमें छकी हुई हैं—ऐसा प्रेमी धन्य है। उसके चरण-तलमें मस्तक नत करके, उसके चरणोंकी धूलि सिर-आँखोंपर रखकर हम भी धन्य हो सकते हैं। उस प्रेमकी चर्चामें महात्मा चरनदासजीके वचन हैं—

गदगद बानी कंठमें, आँसू टपकै नैन।
वह तो बिरहिन रामकी, तलफत है दिन-रैन॥
हाय हाय हरि कब मिलैं, छाती फाटी जाय।
ऐसा दिन कब होयगा, दरसन करौं अघाय॥

प्राणनाथ सुध लें या नहीं, भक्त तो प्रभुके बिना रह न सकेगा। वह तो संसारसे उदासीन होकर पियके रंगमें राता रहेगा—

पीव चहौ कै मत चहौ, वह तौ पीकी दास।
पियके रँग राती रहै, जगसूँ होय उदास॥

अब तो पियके सिवा कुछ रह ही नहीं गया है—

जाप करै तो पीवका, ध्यान करै तो पीव।
पिव बिरहिनका जीव है, जिव बिरहिनका पीव॥

पिय ही विरहिणीका जीव है, पिय ही विरहिणीका प्राण है।

संसारके आवरणको हटाकर देखनेपर सर्वत्र सर्वदा परमात्माका दर्शन हो सकता है। परन्तु है यह बहुत ही कठिन। इसके लिये तो अपना सब कुछ होम करना होगा। 'मैं' को मिटाना होगा। जिस प्रकार दूधमें घी तथा मेंहदीमें रंग ओतप्रोत है उसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु दूधसे घी तथा मेंहदीसे

रंग निकालनेके लिये 'जतन' करना पड़ता है, उसी प्रकार परमात्माको पानेके लिये साधनका आश्रय लेना पड़ता है और सच्चा साधन तो वही है जो प्रभुको मिला दे—

दूध मध्य ज्यों घीव है, मिहँदी माँहीं रंग।
जतन बिना निकसै नहीं, चरनदास सो ढंग॥

प्रभुसे परिचय अथवा मिलनके लिये हमारे संत-महात्माओंने पतिव्रताके प्रेमको ही आदर्शरूपमें स्वीकार किया है। पतिव्रता उसे कहते हैं जो अपने 'पति' के सिवा किसीको जानती ही नहीं। उसका सारा सुख पतिपर निर्भर है। पतिके सिवा और किसीकी ओर वह देखतीतक नहीं। पति ही उसकी गति, पति ही उसकी मति है, वह सतत प्राणनाथके चरणोंकी दासी है। कबीर, दादू आदि महात्माओंने पति-व्रताके प्रेमको आदर्श माना है। महात्मा चरनदासजीने भी इसपर बहुत जोर दिया है। उनका कथन है कि संसारके सभी कार्योंमें प्रभुकी आज्ञाका स्मरण बराबर बना रहे। सदैव यह स्मरण बना रहे कि एक भी ऐसा कार्य न हो जो प्राणनाथको न रुचे। अपने पियके रंगमें राती रहे, और कुछ संसारमें उसे सुहावे ही नहीं। वह पर-पुरुषको विषके समान समझे।

पतिकी ओर निहारिये, औरनसों क्या काम।
सबै देवता छोड़िकै, जपिये हरिका नाम॥

यह सिर झुके तो हरिके चरणोंमें ही, नहीं तो टूटकर गिर जाय। अपने 'स्वामी' को छोड़कर दूसरे देवताका स्पर्श कभी न करूँ; भले ही यह शरीर छूट जाय!

यह सिर नवै तो रामकूँ, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिये, यह तन जावो छूट॥

जब पतिसे परिचय हो गया तो फिर अब क्या भटकना? उसे ही जब एकान्तरूपमें भजा जाय तो वह अपनालेगा और अपने परमधाममें रखकर, बाँह पकड़कर आनन्द देगा—

जब तू जाने पीवहीं, वह अपनी करि लेहि।
परम धाममें राखि करि, बाँह पकरि सुख देहि॥

इसके लिये अपनी ओरसे आवश्यकता है आज्ञाकारिणी पतिव्रताकी भाँति बननेकी—

आज्ञाकारी पीवको, रहै पियाके संग।
तन मनसों सेवा करै, और न दूजो रंग॥

जिसे प्रियतमसे मिलनका रस मिल गया उसके लिये संसारके सभी रस नीरस हो गये। जिसने उस अरूप-रूपको देख लिया उसकी दृष्टि संसारके रूपपर क्यों जायगी? जिसे उसका नाम मिल गया उसके लिये और नामसे क्या ममता? जिसे हरिके दिव्य अङ्गका स्पर्श प्राप्त हो गया उसे संसारके किसी भी स्पर्शका सुख क्या? भगवान्‌में एक साथ ही हमारी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। 'भूमा' का आनन्द भी यही है। इसे ही चरनदासजीने 'आठ पहर साठौं घरी, जागै हरिके ध्यान' कहा है। सदा-सदैव भगवान्‌में जागता रहे; सर्वत्र जागरूक रहे; आवरणमें उलझ न जाय, गुड़ियोंमें फँस न जाय! गुड़ियोंको फेंकता जाय, खिलौनों-पर आँखोंको कभी टिकने न दे—पानीकी लहरें आती जायँ—

उन्हें चीरता जाय; 'उस पार' का विस्मरण न हो, प्राणनाथसे मिलना है—यह भूले नहीं। दृष्टि सर्वत्र, सदैव हरिपर ही रहे—संसारके घने आवरणको भेदकर, जगत्के आकर्षणको वेधते हुए, उमङ्ग और उल्लासके साथ आगे बढ़ता चला जाय—'सोये हैं संसारसूँ, जागे हरिकी ओर'····आज न सही कल, इस जन्ममें न सही किसी भी जन्ममें प्रभुके दर्शन तो होंगे ही। वह मिलन ही यात्राकी 'इति' है!

महात्मा धरमदासजी

लोक और वेदको मथकर संतोंने सार-तत्त्व निकाला। आत्मानुभवके उस दिव्य प्रकाशमें जगत्‌की कोई सत्ता ही नहीं रही। समस्त नाम-रूपमें एक ही नाम और एक ही रूप रह गया। आत्मामें दृष्टि जब डूबी तो सब कुछ परमात्मरूप ही हो गया। वह दृष्टि जहाँ गयी वहाँ केवल हरि ही था। भीतर जब साक्षात्कार हो गया तो बाहरका कोई प्रश्न ही न रहा। सारी लड़ाई, सारी विषमता और विरोध तो भीतरको लेकर ही है। मनको जीत लिया तो संसारको जीत लिया।

नैनन आगे ख्याल घनेरा।
जेहि कारन जग डोलत भरमे,
सो साहेब घट लीन्ह बसेरा॥
का साँझा का प्रात सवेरा,
जहँ देखूँ तहँ साहेब मेरा।
अर्ध उर्ध बिच लगन लगी है,
साहेब घटमें कीन्हा डेरा॥
साहेब कबीर एक माला दीन्हा,
धरमदास घट ही बिच फेरा॥

धरमदासजी कबीरके प्रधान शिष्योंमें थे। कबीरकी अटपटी परन्तु तत्त्वभरी 'बानी' धरमदासके हृदयमें चुभ-सी गयी। धरमदासजीने देखा कि कबीर जो कुछ कह रहे हैं वह अनुभवके रसमें सराबोर है। कबीर पढ़े-लिखे तो थे नहीं और काम भी करते थे जुलाहेका। साधारण वेश और गँवारू बोली देखकर बहुत लोग कबीरको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते थे। परन्तु संत-महात्माओंको इसकी क्या चिन्ता? वे तो न 'पन्थ' चलाना चाहते हैं और न शिष्य-परम्परा ही छोड़ जाना चाहते हैं। कबीरमें जो निर्भीकता, दृढ़ता और अक्खड़पन था उसके कारण भी लोग कबीरसे ऊबते-से थे। परन्तु जिसपर परमात्मा दया करता है उसकी आँखें खोल देता है। कबीरके दर्शन पाकर धरमदासजी प्रेम-विभोर होकर गा उठे—

आज घड़ी अनन्दकी सतगुरु आये मोरे धाम हो।
आये गुरुदेव सजन पठयो, भयो हरष अपार हो॥

सकल सुंदर साजि आरत होत मंगलचार हो ॥
दियो दरसन मन लुभायो, सुन्यो बचन अमोल हो ।
अछय छाया सघन घनकी करत हंस कलोल हो ॥
दया कीन्हो निर्गुन दीन्हो, आपनी करि सैन हो ।
भक्ति मुक्ति सनेही सजनै, लियो परथम चीन्ह हो ॥
भये कलमल दूर तनके, गई तपन नसाय हो ।
अटल पंथ कबीर दीन्हा, धरमदास लखाय हो ॥

धरमदासजीको सबसे पहले कबीरका दर्शन मथुरामें हुआ था । देखते ही धरमदासकी श्रद्धा उमड़ पड़ी । परन्तु संतोंकी लीला भी तो बड़ी विचित्र है । धरमदासको अपनाना था, इसीलिये कबीर अचानक उन्हें छोड़कर काशी चले गये । स्वभावतः ही धरमदास व्याकुल हो तड़फड़ाने लगे । आध्यात्मिक पिपासाकी यह विकलता बड़ी ही दुर्लभ वस्तु है—

नैन दरस बिन मरत पियासा ।
तुमहीं छाड़ि भजूँ नहि औरे, नाहिं दूसरी आसा ।
आठों पहर रहूँ कर जोरी, करि लेहु आपन दासा ॥
निसु बासर रहूँ लवलीना, बिनु देखे नहिं बिस्वासा ।
धरमदास बिनवै कर जोरी, देहु निज लोक निवासा ॥

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें एक बार ऐसा अवसर अवश्य आता है जब उसे परमात्माका संकेत स्पष्टरूपमें मिलता है । यदि उसने उस संकेतको ठीक-ठीक जान लिया और तदनुकूल अपना जीवन बना लिया तब तो मनुष्यजीवन धन्य हो ही गया । परन्तु हम तो संसारमें इतने चिपटे हुए हैं कि इससे परे कोई वस्तु है

या नहीं, यह ध्यान भी नहीं होता! जगत्‌को भला कौन भोग सका? कितने आये और चले गये—संसार उनकी भोग-बुद्धिपर व्यङ्ग्यपूर्ण अट्टहास कर रहा है।

धरमदासके हृदयकी ज्वाला उत्कट और सच्ची थी। वे कबीरकी खोजमें काशी पहुँचे! उन्होंने कबीरको गुरुरूपमें वरण किया और अपनी सारी धन-दौलत लुटा दी और काशीमें ही कबीर साहेबकी शरणमें रहने लगे। कबीरके परमधाम सिधारनेके अनन्तर धरमदासजीको उनकी गद्दी मिली और वे बरसोंतक कबीरमतका उपदेश करते रहे। धरमदासजीके जन्म और निधनकी कोई निश्चित तिथि नहीं मिलती। लोगोंका अनुमान है कि लगभग १४८० वि० संवत्‌में उनका जन्म और लगभग वि० संवत् १६०० के उन्होंने शरीरत्याग किया। १२० वर्षकी अवस्था उनके दृढ़ संयमको देखते हुए अधिक नहीं है।

धरमदासजीकी 'शब्दावली' में उनकी अगाध गुरु-भक्ति, अप्रतिम भगवत्-प्रेम और एकान्त अध्यात्मनिष्ठा शब्द-शब्दमें भरी पड़ी है। धरमदासजी एक बड़ी ही ऊँची श्रेणीके आत्मदर्शी संत थे और लगभग चार सौ वर्ष हो चुकनेपर भी, आज भी उनकी बानी चन्दनके समान शीतल और अमृतके समान मधुर प्रतीत होती है; आज भी उसमेंसे एक अपूर्व विद्युत्-धारा-सी छूट रही है जिसके स्पर्शमें आ जानेपर काई लगा हुआ हृदय भी चमक उठता है, मुर्देमें भी प्राण आ जाता है और हम जीवनके विविध प्रश्नोंपर

एक चिरनवीन परन्तु परम पुरातन दृष्टिसे विचार करने लगते हैं। अस्तु

संतमतमें सच्चे गुरुको खोजकर उसकी शरणमें जाना ही पहली सीढ़ी है। गुरु पाना बड़ा ही दुर्लभ है। जिसने सचा गुरु पा लिया उसका काम बन गया, उसका जीवन कृतार्थ हो गया। श्रीगुरुके चरणोंकी नख-द्युति हमारे कोटि-कोटि जन्मोंकी संस्कारगत वासनाको नष्ट करके हमें सच्चे अध्यात्मपथमें प्रेरित कर देती है। गुरु ही हमें गोविन्दसे मिला सकता है। धरमदासजी सद्गुरुकी महिमा गाते-गाते कभी थके नहीं—

गुरु मोहि खूब निहाल कियो।
बूड़त जात रहे भवसागर पकरिके बाँहि लियो।
चौदह लोक बसैं जम चौदह, उनहुँसे छोरि लियो॥

गुरुने मुझे खूब ही निहाल कर दिया। संसार-सागरमें मैं बहा जा रहा था, गुरुने मेरी बाँह पकड़कर मुझे उबार लिया। उन्होंने ही कृपाकर मुझे यमके फंदेसे सदाके लिये छुड़ा लिया। हृदयकी घुंडी खोलकर गुरुने प्रीतमसे साक्षात्कार करा दिया और मैं सदाके लिये निहाल हो गया। सच्चे गुरुका मिलना परमात्माकी विशेष दयाका शुभचिह्न है—

मोरे पिया मिले सत ग्यानी।
ऐसन पिय हम कबहुँ न देखा, देखत सुरत लुभानी॥
आपन रूप जब चिन्हा बिरहिन, तब पियके मन मानी।
जब हंसा चले मानसरोवर, मुक्ति भरै जहँ पानी॥

कर्म जलायके काजल कीन्हा, पढ़े प्रेमकी बानी।
धरमदास कबीर पिय पाये, मिट गई आवाजानी॥

गुरु तो स्वयं भगवान्‌का स्वरूप है। उसे देखते ही हृदय गुलाम बन गया। जब अपने सत्य स्वरूपका बोध हुआ तभी पियको मैं अच्छी लगी। गुरुकी दयासे आत्मा अपने परमपुरुषमें मिल गयी। उस आनन्दका क्या कहना? मुक्ति—मुक्ति तो वहाँ चेरी बनकर पानी भरती है। कर्मोंका बन्धन स्वयं छिन्न-भिन्न हो गया। कर्मोंका आश्रय तो अविद्या ही है। जब स्वयं अविद्या ही मिट गयी तो कर्मोंका क्या पूछना? वहाँ तो बस प्रेम-ही-प्रेम है! जब सच्चे 'प्रीतम' को पा लिया तो आवागमनका झगड़ा कैसा?

गुरुमुखसे प्राप्त 'नाम' ही साधकका सर्वस्व है। नामके रसमें साधक सदैव छका रहता है। लोक-परलोककी सुध उसे क्यों रहे? वह तो बस 'नाम' में ही मस्त है। रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते नामकी धुन लगी हुई है—

नाम रस ऐसा है भाई।
आगे आगे दाहि चलै पाछे हरियर होइ।
बलिहारी वा वृच्छकी, जड़ काटे फल होइ॥
अति कड़ुवा खट्टा घना रे, वाको रस है भाई।
साधत साधत साध गये हैं, अमली होय सो खाई॥
सूँघतके बौरा भये हो, पीयतके मरि जाई।
नाम रस्स जो जन पिये, धड़पर सीस न होई॥
संत जवारिस सो जन पावै जाको ग्यान प्रगासा।
धरमदास पी छकित भये हैं, और पिये कोइ दासा॥

'नाम' एक विचित्र चिनगारी है। आगे-आगे यह संसारके सघन वनको जलाता जाता है और पीछेसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी वाटिका हरी-भरी होती आती है। 'नाम' के द्वारा ही संसार-वृक्षकी जड़को काटा जा सकता है। संसारको काट चुकनेपर ही तो जीवनका फल प्राप्त होगा। नाम बड़ी कठिन वस्तु भी है। सहज ही इसका रस पीनेको नहीं मिलता। प्रारम्भमें तो यह बहुत ही कड़ुआ और खट्टा प्रतीत होता है; पीते नहीं बनता। परन्तु जिसने इसे साध लिया उसने अपने आँगनमें कल्पवृक्ष लगा लिया। 'नाम' का रस सूँघते ही हृदय प्रेममें पागल हो जाता है; पीते ही अहङ्कार भस्म हो जाता है, मैं-पन मिट जाता है। जिसने नामरस पी लिया उसके धड़पर सिर नहीं रहता। शरीरके साथ जो हमारा मोह है, इस शरीरको ही जो हम 'मैं-मैं' समझे हुए हैं, यही सारे दुःखोंका कारण है। नामरस पी लेनेपर इस झूठे 'मैं' की मृत्यु हो जाती है और सच्चे 'मैं' के दर्शन होते हैं। संत-समागमका अमृतरस तो उसे ही प्राप्त होगा जिसका अन्तस् ज्ञान-प्रकाशसे जगमगा रहा है। धरमदासजी तो नामके रसको पीकर छके हुए हैं। यदि और कोई प्रभुका दास हो वह आकर पी ले—द्वार सबके लिये खुला है; केवल शर्त है सिरकी। सिर देकर कोई भी नामरस पी ले—

चरन कँवल सतगुरु दिया, हम सीस चढ़ाई।

संतोंने जगत्के अनित्य और असुख रूपको खूब ठोंकबजा-कर देख लिया है। इस कच्चे घड़ेका क्या भरोसा ? पानीका बूँद

पड़ा नहीं कि यह गला नहीं। इस शरीरमें जो हमारी ममत्व-बुद्धि है वही सारे अनर्थका मूल है। इस जगत्को 'अपना' कहकर जो हम इससे चिपटे हुए हैं यही भारी भ्रम है। इस भ्रमको मिटाये बिना तत्त्वज्ञान कैसा? भक्ति और ज्ञान दोनोंमें ही जगत्का जगत्‌रूप मिट जाता है। जगत्की उपासना करे वह भक्त या ज्ञानी कैसा? भक्तके लिये तो 'वासुदेवः सर्वमिति'—सब कुछ केवल वासुदेव हो जाता है; ज्ञानीके लिये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—सब कुछ ब्रह्म ही है। जगत्के लुभावने रूपमें जो फँसा वह गया। यह जादू तो विषभरा कनक घट है। जगत्को भोगनेके लिये सुखकी आकांक्षासे जिसने पैर बढ़ाया वह ऐसे खंदकमें गिरा जहाँसे कोटि-कोटि जन्मोंमें भी उसका उद्धार नहीं हो सकता। मानव-जीवनका तो परमफल है प्रभुका स्मरण। हरिका स्मरण बना रहे, नित्य-निरन्तर उसीका चिन्तन होता रहे, मन उसके रंगमें रँग जाय, उसके अतिरिक्त कुछ रह न जाय—मेरा अहं भी स्वयं वासुदेवरूप हो जाय, फिर क्या पूछना? परन्तु इसके लिये आवश्यकता है विषयोंकी ओरसे दृढ़तापूर्वक मनको मोड़कर हरिचरणोंमें लगानेकी। यह तभी सम्भव है जब हम संसारको इसके असली रूपमें देखें—

थोरे दिनकी जिंदगी, मन चेत गँवार॥
कागदकै तन पुतरा, डोरा साहेब हाथ।
नाना नाच नचावहीं, नाचै संसार॥
काच माटीके घइलिया, भरि लै पनिहार।
पानी परत गल जावहीं, ठाढ़ी पछिताय॥

जस धूआँके धरोहरा, जस बालूकै रेत।
हवा लगे सब मिटि गये, जस करतब प्रेत॥
ओछे जलकै नदिया हो, बहै अगम अपार।
उहाँ नाच नहिं बेरा हो, कस उतरब पार॥
धरमदास गुरु समरथ हो, जाको अटल अपार।
साहेब कबीर सतगुरु मिले आवागवन निवार॥

अथाह समुद्रकी छातीपर कागजकी नाव बही जा रही है। रस्सी प्रभुके हाथ है। 'वह' जैसा नाच नचाता है वैसा ही नाचना पड़ता है। हम मूर्खता और अहङ्कारवश अपनेको 'कर्ता' मान बैठते हैं; करनेवाला तो केवल हमारा सिरजनहार ही है; उसीके हाथमें हमारा समग्र जीवन-सूत्र है, वह चाहे जैसा नाच नचावे। यह हमारा शरीर, जिसका हमें इतना अभिमान है, एक कच्चे घड़ेके समान है; जरा-सी ठेस लगी, एक बूँद पानी पड़ा और यह गया! परमात्माने दयाकर हमें यह मनुष्यका शरीर दिया—इसे पाकर भी फिर नरकका सामान इकट्ठा करना कितनी मूर्खता है! जिसे भी मनुष्यका देवदुर्लभ शरीर मिल गया वह मुक्तिका अधिकारी हो गया। मुक्तिका अधिकारी नरककी तैयारीमें जीवनभर तल्लीन रहे—यह कितने आश्चर्यकी बात है। मृत्युका तो किसीको कभी स्मरण ही नहीं होता। ऐसा मालूम होता है मानो हम अमर होकर आये हैं। नित्य हम 'रामनाम सत्य है' का दृश्य देखते हैं, परन्तु 'रामनाम' की सत्यता हमारे भीतर पैठती नहीं।

धुएँके धौरहरका क्या आसरा? हवा बही और यह मिटा! यह संसार विषयोंका महासागर है—इससे तरनेके लिये केवल

परमात्माकी कृपा और नाम ही नाव है। जिस प्रकार जादूगर कठपुतलीको जो नाच नचाना चाहे वही नाच वह नाचती है उसी प्रकार हमें भी बड़ी प्रसन्नता और उल्लासके साथ प्रभुके सङ्केतपर मस्ती और अदाके साथ नाचना चाहिये। कहीं इस अभिनयमें ममत्व न आ जाय! वह जहाँ भेजे, जैसे रक्खे उसीमें अपनी परम प्रसन्नता और कल्याण-भावना होनी चाहिये। वास्तवमें हम नाच तो रहे हैं निरन्तर उसी एक 'सूत्रधार' के सङ्केतपर—हम भले ही उस सङ्केतको स्पष्ट अनुभव करें या न करें। जो अपने जीवनकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक श्वासमें परमात्माकी प्रेरणाका अनुभव करते हैं वे हर दशा और हर नृत्यमें हरिके स्पर्शका सुख अनुभव करते हैं। विधानमें ही स्वयं विधाता आकर हमारे प्रत्येक पलको अपने रूप-रस-गन्ध-स्पर्शसे ओतप्रोत कर रहा है—

कागदकी नइया बनी हो डोरी साहेब हाथ।
जौने नाच नचैहैं हो नाचब वोही नाच॥

जगत्की ओरसे मुँह मोड़कर परमात्मपथमें चलनेवालेके लिये महात्मा धरमदासजीके उपदेश बड़े ही अनमोल हैं—

सब्द बिचार नाम धर दीपक लै उर बारो हो।
जुगन जुगनकै अरुझनि, छनमें निरुवारो हो॥
पंथे चलो गरीब होय, मद मोह निवारो हो।
साहेब नैन निकट बसै सत दरस निहारो हो॥
आपे जगत जिताइकै मन सबसे हारो हो।
जवन बिधि मनुआ मरै सोइ भाँति सम्हारो हो॥

'नाम' का दीपक जलाकर हृदयमें प्रकाश कर लिया और प्रीतमके दर्शन हो गये तब युग-युगकी उलझन स्वयं एक क्षणमें सुलझ गयी। जगत्की दृष्टि हमपर न पड़े इसलिये बहुत गरीब होकर पथमें चलें। अध्यात्मपथमें अहंकारकी गुंजाइश है ही नहीं। मद और मोह ही तो संसारमें भरमानेवाले हैं। इन्हें जब जीत लिया तो बीचका आवरण भङ्ग हो गया और आँखें हर समय हर स्थानमें, सोते-जागते उसे ही देखने लगीं। संसारके साथ सङ्घर्षमें न लगकर मनको संसारसे मोड़ लेना चाहिये और जीते हुए मनको मनमोहनमें लगाना सरल हो जायगा।

मन जब अविचलरूपसे प्रभुमें लगने लगा तो फिर अब क्या पूछना?

> राते माते रहो बहुत जनि बोलो हो।
> निरखत परखत रहो, पलक जनि खोलो हो॥
> रजनीके दिहल किवार, सत कुंजी खोलो हो।
> ते उँजियारिमें बैठि, निर्भय होइ खेलो हो॥

वहाँ मधुकी धार बह रही है। उसे पीकर छके रहो। अब बोलना क्या? आँखें बंद हैं—भीतरकी छवि देख-देखकर गद्गद होते रहो। तमोगुणको पैठने न दो; सत्यका द्वार खोलकर प्रकाश-राज्यमें प्रविष्ट हो जाओ और वहाँ निर्भय होकर हरिसे हिलो-मिलो!

एक बार भी, यदि एक क्षणके लिये भी मन पूरा-पूरा पिघल गया और हरिका रूप उसमें ओत-प्रोत हो गया तो सदाके लिये ही उस अपरूपमें निवास हो गया। एकान्तरूपसे उसी एककी

चाह रह गयी; और सभी चाह इस एक चाहमें समा गयी। उस समय तो हृदयकी बस एक ही कातर पुकार है—

साहेब चितवो हमरी ओर।
हम चितवैं तुम चितवो नहीं, तुम्हरो हृदय कठोर।
औरनको तो और भरोसो, हमैं भरोसो तोर॥

मैं तो तुम्हारी ओर एक दृष्टिसे देख रहा हूँ, तुम मुझपर अपनी दृष्टि डालतेतक नहीं। हाय ! तुम्हारा यह पत्थरका कठोर हृदय !! सब ओरसे निराश होकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ, तुम्हारा ही भरोसा, एकमात्र तुम्हारा ही आसरा और सहारा रह गया है—मेरे लिये तो तुम्हारे सिवा कोई है ही नहीं ! प्रभुकी 'कठोरता' (!) भी कितनी मधुर, कितनी आकर्षक है !

इस कठिन दुर्गम पथपर चलते-चलते साधक थकता नहीं। बीच-बीचमें उसे जो 'झाँकी' मिलती जाती है उससे उसका उत्साह अधिकाधिक बढ़ता जाता है। चलते-चलते कभी-कभी वह 'अपने' को सर्वथा खो देता है—

साहेब देखों तेरी सेजरिया हो।
लाल महलके लाल कँगूरा, लालिनि लागि किवरिया हो।
लाल पलँगके लाल बिछौना, लालिनि लागि झलरिया हो॥
लाल साहेबकी लालिनि मूरत, लालि लालि अनुहरिया हो।
धरमदास बिनवै कर जोरी, गुरुके चरन बलहरिया हो॥

यहाँ निम्नलिखित दोहा स्वयं स्मरण हो आता है—

लाली मेरे लालकी, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल॥

कैसी विचित्र बात है कि हम सब कुछ खोजें परन्तु अपने प्रीतमको खोजनेका अवकाश ही न पावें? भोगोंकी वेदीपर भगवान्‌को चढ़ाकर हम मदमत्त हाथीकी भाँति घूम रहे हैं—

साँझ भई पिया बिना अकुलानी।
देस देस ढूँढि फिरि आई, लोक-लोक मैं छानी।
कोइ न खोजै पिय अपनेको झुंड-की-झुंड गुमानी॥

जगत्‌का जो सुख-भोग है वह हमें परमात्मसुख-भोगसे वञ्चित रख रहा है। जगत्‌की ओरसे मुख मोड़ लेनेपर ही परमात्मपथमें चलना सम्भव है। दोनों एक साथ नहीं सधते। एक आत्मदर्शी महात्माके इस सम्बन्धमें बड़े ही अनमोल अनुभव हैं—

"Man's life is a paradox. Somehow he is placed in between sense pleasures and Divine pleasures. He must use his endowed reason to distinguish between the real soul pleasures and the pseudo-pleasures of the senses. If the devotee becomes addicted to sense-pleasures, his consciousness becomes caged behind the screen of bodily sensations and he cannot comprehend the superior pleasures of ecstasy in spirit. 'Do away with attachment to the sense, if you want to feel the joy of Heavenly consciousness vibrating in every cell of the ether'."

मनुष्यका जीवन एक विचित्र पहेली है। एक ओर विषयोंका सुख है और दूसरी ओर अध्यात्मसुख। वास्तविक आनन्द और झूठे सुखमें विवेकद्वारा भेद समझकर सत्य सुखकी उपलब्धिमें लगना चाहिये। यदि साधक भौतिक सुखमें लिपट गया तो उसकी आत्मा

एक पिंजड़ेमें बँध गयी और वह परमात्मसुखको क्या जानने लगा? यदि दिव्य आध्यात्मिक आनन्दकी उपलब्धि चाहते हो तो विषय-सुखकी आसक्तिसे मुक्त हो जाओ। वह परमात्मसुख एक-एक अणुमें ओतप्रोत हो रहा है। आवश्यकता है मोहका आवरण हटाकर एकान्त भावसे परमात्मदर्शन और भगवन्मिलनकी आकुल उत्कण्ठाकी।

साधनाके पथमें चलते हुए बहुधा साधकको अपनी बुराइयों और दुर्बलताका अत्यधिक स्मरण हो आता है, परन्तु वह निराश नहीं होता। उसका जब यह दृढ़ विश्वास है कि हरिने मेरी बाँह पकड़ ली है तो वह भला जगत्की भयानकतासे परास्त क्यों हो? वह और भी अधिक आतुरताके साथ हरिका स्मरण करता है—

साहेब मोरि बँहियाँ सम्हारि गही।
गहिरी नदिया नाव झाँझरी बोझा अधिक भई।
मोह लोभकी लहर उठत है नदिया झकोर वही॥
तुमहिं बिगारो तुमहिं सँवारो, तुमहिं भँडार भरी।
जब चाहो तब पार लगाओ, नहिं तो जात वही॥
कुमति काटिके सुमति बढ़ावो, बल बुधि ज्ञान दई।
मैं पापी बहु बेरी चूकूँ, तुम मेरी चूक सही॥

यहाँ गिरधरकी एक कुण्डलिया सहज ही स्मरण हो आती है—

नैया मेरी तनक-सी, बोझी पाथर भार।
चहुँ दिसि अति भौंरे उठत, केवट है मतवार॥
केवट है मतवार, नाव मँझधारहिं आनी।
आँधी उठी प्रचंड, तेहुँपर बरसत पानी॥

कह गिरधर कविराय, नाथ हो तुमहिं खेवैया।
उठै दयाको डाँड, घाटपर आवै नैया॥

एक बार 'प्रीतम' के दर्शन हो चुके हैं। मैंने समझा यह सुख अब मिटनेका नहीं। परन्तु संसारसे मेरा वह सुख देखा न गया। वह बीचमें आ टपका। मेरा वह 'सुख' छिन गया। अब तो यह जगत्-ही-जगत् रह गया। हरिकी वह झाँकी जाने कहाँ विलीन हो गयी! परन्तु रह-रहकर एक हूक उठती है—

हमरी उमिरिया होरी खेलनकी,
पिय मोसे मिलिके बिछुरि गयो हो॥
पिय हमरे हम पियकी पियारी,
पिय बिच अंतर परि गयो हो॥
पिया मिलै तब जियों मोरी सजनी,
पिय बिना जियरा निकरि गयो हो॥
इत गोकुल उत मथुरा नगरी,
बीच डगर पिय मिलि गयो हो॥
धरमदास बिरहिन पिय पावै,
चरन कँवल चित गहि रहो हो॥

उस 'आनन्द' का जहाँ चसका लगा कि संसारके सभी रस नीरस हो गये। जगत्में क्या शक्ति कि अब हमें प्रीतमसे वियुक्त कर सके। भूलसे मैं संसारको पूजता था, अब भ्रम मिट गया और हृदयके सिंहासनपर हरिजी विराज रहे हैं—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै खन बिजुली चमकै,
लहर उठै सोभा बरनि न जाय॥

सुन्न महलसे अमृत बरसै,
प्रेम अनँद होइ साधु नहाय ॥
खुली किवरिया मिटी अँधियरिया,
धन सतगुरु जिन दिया है बताय ॥

संतोंकी आध्यात्मिक स्थितिका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। शब्दोंमें उस आनन्दका वर्णन क्या हो? वह तो स्वसंवेद्य है, गूँगेका गुड़ है। जिनके लिये यह जगत् रह ही नहीं गया; जो सर्वत्र, सर्वदा, भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, दायें-बायें, हर घड़ी, हर ठौर केवल हरिका ही दर्शन करते हैं, उसीका स्पर्श करते हैं, उसीका रसास्वादन करते हैं और उसी रसमें स्वयं छके रहते हैं उनके सुखका वर्णन कोई करे भी कैसे? जो हमारा वास्तवमें गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् है उससे जब 'परिचय' हो गया, जब सर्वलोकमहेश्वर ही हमारे परम सुहृद् हो गये तब क्या चिन्ता, कैसा द्वन्द्व? इन आत्मदर्शी संत-महात्माओं-की बानीसे कुछ देरके लिये भी यदि हृदयका कल्मष मिट जाय तो अपनेको धन्य मानना चाहिये।

बहुत पहले एक महात्माको खँजड़ीपर गीत गाते सुना था, मुझे वह बहुत भाया। पन्द्रह-सोलह वर्ष बाद आज समझ सका हूँ कि वह पद धरमदासजीका था। वह यों है—

कहँवासे हंस आइल, कहँवा समाइल हो।
कहँवा कइल मुकाम, कहाँ लपटाइल हो॥
निरगुनसे हंस आइल, सगुन समाइल हो।
कायागढ़ कइल मुकाम, माया लपटाइल हो॥

महात्मा धरमदासजी

एक बुंदसे काया महल उठावल हो।
बुंद परे गलि जाय, पाछे पछितावल हो॥
हंस कहे भाइ सरवर, हम उड़ि जाइब हो।
मोर तोर एतन दीदार, बहुरि नहिं पाइब हो॥
इहवाँ कोइ नहिं आपन, केहि सँग बोलै हो।
बिच तरवर मैदान, अकेला (हंसा) डोलै हो॥
लख चौरासी भरमि, मनुख तन पाइल हो।
मानुख जनम अमोल, अपनसों खोइल हो॥
साहेब कबीर सोहर गावल, गाइ सुनावल हो।
सुनहु हो धर्मादास, एही चित चेतहु हो॥

यदि वस्तुतः हम इसे समझकर हृदयङ्गम कर लें तो फिर इस अनमोल मनुष्यशरीरका पाना सुफल हो गया, हमारा जीवन धन्य हो गया, हम सर्वथा निहाल हो गये, क्योंकि 'नहिं ऐसो जनम बारंबार'।

स्वामी रामतीर्थकी आध्यात्मिक मस्ती

भगवत्प्रेमकी साधना भी एक अजीब नशा है। जहाँ एक बार लौ लगी कि लगी। प्रेमकी एक नन्हीं-सी चिनगारी हृदयमें प्रवेश करते ही सब कुछ आत्मसात् कर लेती है। हृदयके भीतर हरिजी जब पूरी तरह दीख जाते हैं तब तो बाहर, वसुन्धराके कण-कणमें भी केवल वही वह रह जाते हैं—जहाँ आँखें जाती हैं वहीं प्रभुजी मुसकाते हुए खड़े रहते हैं। प्रेमका रस जब पूरी तरह रोम-रोममें भिन गया तब संसारमें प्रेमदेवके सिवा रह ही क्या गया?

अजब तेरा कानून देखा खुदाया!
जहाँ दिल दिया फिर वहीं तुझको पाया!!

स्वामी रामतीर्थकी आध्यात्मिक मस्ती

जो तुझ पै फिदा दिल हुआ एक बारी।
उसे प्रेमका तूने जलवा दिखाया॥
तेरी पाक सीरत का आशिक हुआ जो।
वही रँग रँगा फिर जो तूने रँगाया॥

प्रभु-प्रेमके ऐसे दीवानोंके दर्शन दुर्लभ ही हैं। चैतन्य और मीरा, ईसा और मंसूर संसारमें कितने हुए? ऐसे प्रेमियोंकी जिसपर दृष्टि पड़ी वही प्रेममें पागल हो गया। वे जहाँ रहते हैं वहाँके परमाणुओंमें ही कृष्ण-प्रेम भरा रहता है! उनका स्पर्श ही संक्रामक है। उनके चरणोंको चूमकर पृथ्वी भी अपना भाग्य सराहती है। वायु उनके स्पर्शमें आकर प्रभु-प्रेमकी खुशबूसे मँह-मँह हो उठती है।

अभी, इस बीसवीं सदीमें प्रभुका एक ऐसा दीवाना संसारमें आया था जो राम बादशाहके नामसे प्रख्यात है। किस सन्‌में कहाँ उसका जन्म हुआ और कब कहाँ उसकी मृत्यु हुई ये बातें अप्रासंगिक होंगी क्योंकि ऐसे प्रेमदीवाने तो न कहीं आते हैं न कहीं जाते हैं। जो बादशाहोंके बादशाहमें एक होकर रहा वह बराबर रहा—वह भला मिटेगा कैसे? वह ललकारकर कहता है—

न है कुछ तमन्ना न कुछ जुस्तजू है,
कि वहदतमें साक़ी न सागर न बू है!!
मिलीं दिलको आँखें जभी मारफतकी,
जिधर देखता हूँ, सनम रू बरू है!!

गुलिस्ताँमें जाकर हर इक गुलको देखा ,
तो मेरी ही रंगत व मेरी ही बू है !!
मेरा तेरा उट्ठा, हुए एक ही हम ,
रही कुछ न हसरत न कुछ आरजू है !!

परमात्माको जो सर्वत्र देखता है, जो सर्वदा उसी एकको देखता है वही उस प्रेममदमें छके रहनेके कारण बोल उठेगा—

जैसे तेरी खुशी हो सब नाच तू नचा ले ।
सब छान बीन कर ले, हर तौर दिल जमा ले !
राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है ।
याँ यों भी वाह वा है औ वाँ भी वाह वा है !!
जीता रखे तू हमको या तनसे सर उतारे ।
अब राम तेरा आशिक कहता है यों पुकारे ॥
राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है ।
याँ यों भी वाह वा है औ वाँ भी वाह वा है !!

एक दिन सन्ध्या समय रावी नदीके पार वनमें स्वामी रामतीर्थ घूम रहे थे । आकाशमें घनघोर घटा छा रही थी। काले-काले बादलोंको देखकर तो आप कुछ देर समाधिस्थ-से रहे और फिर बड़े जोरसे रोकर कहने लगे—'हे कृष्ण ! हे घनश्याम ! हे श्यामसुन्दर ! ये श्यामरंगके बादल आपका रंग है । ये मुझे व्याकुल कर रहे हैं । प्यारे ! इतना क्यों तरसाते हो ? बताओ तो सही कौन-से कुञ्जमें तुम छिपे हुए हो ? अरे बादल ! तू ऊँचाईसे बहुत कुछ देख सकता है, फिर बता मेरा कृष्ण कहाँ है ? अच्छा मैं समझ गया ! तूने उसके वियोगकी व्यथामें अपना

श्यामवर्ण बना रखा है। क्या मुझे उस प्यारे कृष्णका दर्शन प्राप्त न होगा? यह संसार बिना उस कृष्ण-दर्शनके काट खायगा! यह वियोगकी व्यथा किसके आगे रोऊँ? हे कृष्ण! तुम्हारे लिये मित्र और सम्बन्धियोंसे मुख मोड़ा, संसारकी लाज-शरम छोड़ी—किन्तु तुम्हारे नाज़-नखरोंका ठिकाना ही नहीं। तुम्हारे सिवा मेरा कौन है?'

'अरी कोयल! तेरी आवाज़में यह हृदयवेधकता कहाँसे आयी? क्या तूने उस वंशीवालेको देख लिया है? जान पड़ता है तू उससे आवाज उधार लायी है। तूने उस कृष्ण प्यारे-को देख लिया है। सच बता, वह हमसे कब और किस तरकीब-से मिलेगा? अरी आँखो! यदि तुम श्यामको नहीं देख सकती हो तो अभी फूट जाओ! अरे हाथो! यदि तुम कृष्ण प्यारेके चरणोंको नहीं छू सकते तो मैं तुम्हें रखकर क्या करूँगा? गल जाओ! मर जाओ............!!' यह कहते-कहते बिलख-बिलख-कर रोने लगे। आँसुओंसे कपड़े तरबतर हो गये। रोना बंद ही नहीं होता था! मूर्छित हो गये!

मैं तू हुआ, तू मैं हुआ, मैं देह हुआ तू प्राण हुआ!
अब कोई यह न कह सके, मैं और हूँ तू और है!!

सन्ध्या हो चली है। हिमालयमें एक छोटी-सी पहाड़ीपर राम बैठा है। विचित्र दशा है। न तो उसे उदासी नाम दे सकते हैं, न शोक और न दुःख ही। सांसारिक पुरुषोंवाला यह हर्ष भी नहीं है। उसे जागता नहीं कह सकते, सोया भी नहीं

कह सकते, कदाचित् यह उन्मत्त हो! परन्तु यह तो सांसारिक उन्माद नहीं है। क्या रस-भीनी अवस्था है! दूरके वृक्षोंमेंसे घड़ियाल और शङ्खकी ध्वनि आने लगी है। कदाचित् कोई मन्दिर है! आरती हो रही है। वह देखो, सामने ऊँची पहाड़ीकी चोटीसे दो-तीन फीटकी ऊँचाईपर त्रयोदशीका चन्द्रमा भी अपना शीतल प्रकाशमान मुखड़ा लिये आ रहा है। क्या यह आरतीमें सम्मिलित होने आया है? सम्मिलित क्यों! यह तो अपने दमकते हुए प्रकाशमान मुखकी ज्योति बनाकर अपने आपको सदाशिवपर वार रहा है। आरतीरूप बन रहा है। आहा! सारी प्रकृति आरतीमें सम्मिलित हो गयी! चारों ओरसे कैसी ध्वनि आने लगी? ऐ चाँद! तू आगे बढ़ जानेवाला कौन है? प्यारे! अकेला मत रह! अपनी हड्डियों और तन-बदनको आगकी तरह सुलगाकर तेरी तरह 'राम' अपने आपको इस आरतीमें क्यों न वार डालेगा?

मेरे प्यारेका यह भी प्यारा है।
मेरी आँखोंका यह भी तारा है!!

जिस प्यारेके घूँघटमेंसे कभी हाथ, कभी पैर, कभी आँख, कभी कान कठिनाईसे दिखायी देता था, दिल खोलकर उस दुलारे-का आलिङ्गन प्राप्त हुआ! हम नंगे, वह नंगा; छातीपर छाती है। ऐ हाड़-चामके जिगर और कलेजे! तुम बीचमेंसे उठ जाओ! भेद-भाव हट! फासले भाग! दूरी दूर हो! हम यार, यार हम! यह शादी है कि शादी-मर्ग—आनन्दमयी मृत्यु!

आँसू क्यों छमाछम बरस रहे हैं?..........क्या यह विवाह-कालकी झड़ी है अथवा मनके मर जानेका मातम? संस्कारोंका अन्तिम संस्कार हो गया! इच्छाओंपर मरी पड़ी! दुःख-दरिद्र उजाला आते ही अँधेरेकी तरह उड़ गये। भले-बुरे कर्मोंका बेड़ा डूब गया।

आँसुओंकी झड़ी है कि अभेदताका आनन्द दिलानेवाली वर्षाऋतु! ऐ सिर! तेरा होना भी आज सुफल है! आँखो! तुम भी धन्य हो गयी। कानो! तुम्हारा पुरुषार्थ भी पूरा हुआ! यह आनन्दमय मिलाप मुबारक हो, मुबारक हो, मुबारक हो।

दीवाना अम दीवाना अम वा अक़्लो-हुश बेगाना अम्।

मैं पागल हूँ, मैं पागल हूँ, बुद्धि और होशसे परे हूँ! मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं स्वतन्त्र हूँ, शोकसे नितान्त दूर हूँ, संसाररूपी बुढ़ियाके नखरे और हावभावसे मैं नितान्त मुक्त और परे हूँ। ऐ संसाररूपी बुढ़िया! यह सुन, नखरे-टखरे मत कर! तुझमें मेरा चित्त आसक्त नहीं। ओ३म्! ओ३म्!! ओ३म्!!!

प्रेमके अथाह समुद्रमें राम सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम देख रहे हैं—

जिस तरफ़ अब निगाह जावे है!
आब ही आब नजर आवे है!!

जिस ओर हम दौड़े वह सब दिशाएँ तेरी ही देखीं अर्थात् सब ओर तू ही था। और जिस स्थानपर हम पहुँचे, वह सब तेरी ही गलीका सिरा देखा! जिस उपासनाके स्थानको हृदयने प्रार्थनाके लिये ग्रहण किया उस हृदयके पवित्र धामको तेरी भ्रूका झुकाव

देखा—अर्थात् उस स्थानपर तू ही झाँकता दृष्टिगोचर हुआ। समस्त संसारके प्यारोंकी मस्त आँखोंमें हमने जब देखा तो तेरी जादूभरी नरगिस (आँख) देखी ! तुझको हँसते हुए देखकर मैं तृप्त नहीं हुआ हूँ ! पर प्यारे ! अधर और दाँतोंपर बलिहार !!

.! तोरे रँगमें सनाय रही !
और रँग मोहे काहे प्रिय होवे, प्रीतम-रँगमें लुभाय रही !
मैं पिया ! तोरे रँगमें सनाय रही !!
रंग वही, रँगरेज वही, मैं चटक चुनरिया रँगाय रही !
मैं पिया ! तोरे रँगमें सनाय रही !!
हमरे पिया हम पियकी री सजनी, पियापर जियरा गँवाय रही !
मैं पिया ! तोरे रँगमें सनाय रही !!

अमृतकी मदिराका प्याला मदिरा पिलानेवालेके हाथसे मैं अत्यन्त अनुरागके साथ लेनेकी खोजमें हूँ और उसके प्रेममें नाचता हूँ। खुल्लमखुल्ला मैं यह कहता हूँ, और अपने इस कहनेसे प्रसन्न होता हूँ कि मैं प्रेमी पुरुष हूँ और लोक-परलोक दोनोंसे विमुक्त हूँ।

मैं मस्तीमें पागल हुआ फिरता हूँ और संसारकी चिन्ता नहीं करता। मैं दुःखोंसे बिल्कुल भयभीत नहीं हूँ; आनन्दसे यह स्वर 'तन तनना तना-नना' गाता रहा हूँ। जो कुछ संसारमें है, मुक्त पुरुषोंके लिये निषिद्ध है। हमारी सामग्री और सामान इस आकाशके नीचे केवल सन्तोष है।

सहजोने ऐसे प्रेमोन्मादका एक बहुत सुन्दर चित्र खींचा है—

प्रेम-दिवाने जे भये, मन मे चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, 'सहजो' देखि हुजूर॥

प्रेम-दीवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
'सहजो' मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकै नैन॥
प्रेम-दीवाने जे भये, जाति बरन गइ छूट।
'सहजो' जग बौरा कहै, लोग गये सब फूट॥
प्रेम-दीवाने जे भये 'सहजो' डगमग देह।
पाँव परै कितकी कहूँ, हरि सँवारि तब लेह॥
कबहूँ इकधक ह्वै रहैं, उठैं प्रेमहित गाय।
'सहजो' आँख मुँदी रहै, कबहूँ सुधि ह्वै जाय॥
मनमें तो आनँद रहै, तन बौरा सब अंग।
ना काहूके संग हैं, 'सहजो' ना कोइ संग॥

'राम बादशाह' कहा करते थे—मैं शहंशाह राम हूँ। मेरा सिंहासन तुम्हारा हृदय है। मेरी आवाजमें तुम्हारी आवाज है—तत्त्वमसि! तत्त्वमसि!! तू ही है वह, तू ही है वह!

No Sin, no grief, no pain,
Safe in my happy Self,
My fears are fled, my doubts are slain,
My day of triumph come.

मुझे पाप-सन्तापसे क्या नाता? दुःखोंसे मेरा क्या सम्बन्ध? मैं अपनी आत्मामें स्वच्छन्द हूँ, सर्वथा सुरक्षित हूँ। मेरे भय भाग गये, मेरी शङ्काएँ मिट गयीं, मेरी विजयके दिन आ गये!

पहाड़की चोटीपर किस जोरसे ॐ! ॐ!! ॐ!!! की ध्वनि सुनायी दे रही है। अरे पिछली रातके सोनेवालो! क्या यह कूक तुम्हारे पास नहीं पहुँची? तुम्हारी नींद अभीतक नहीं खुली? बादलो! जाओ, संसारभरमें ढिंढोरा पीट दो, 'ॐ'!

बिजली ! दौड़ो ! प्रकाशके अक्षरोंमें लिखकर दिखा दो, 'ॐ' !! प्रभातकी वेला है। खुदमस्तीमें झूमता हुआ 'राम' जा रहा है। मौजमें किसी समय नाचने लगता है और किसी समय ॐ ॐ ॐ की तान छेड़ने लगता है।

जित देखूँ तित मस्या जान !
पी पी मस्ती आठों यान !!
नित्य तृप्त सुख-सागर नाम।
गिरे बने हम तो आराम !!
देखा-सुना सपाना काम।
तीन लोकमें है विश्राम !!
क्या सोचे क्या समझे राम।
तीन काल जिसको निज धाम !!

इस मस्तीमें बस राम-ही-राम रह गया है और कुछ है ही नहीं—'राम' नाच रहा है—

नाचूँ मैं नटराज रे, नाचूँ मैं महाराज !
सूरज नाचूँ, तारे नाचूँ, नाचूँ बन महताब रे।
ज़र्रा नाचूँ, समुद्र नाचूँ, नाचूँ मोथरा काज रे ॥
तन तेरेमें मन हो नाचूँ, नाचूँ बाड़ी नाड़ रे।
बादर नाचूँ, वायु नाचूँ, नाचूँ नदी अरु नाव रे ॥
गीत राग सब होवत हरदम, नाचूँ पूरा साज रे।
घर लागो रँग, रँग घर लागो, नाचूँ पाया ताज रे ॥
मधुवा लब, बदमस्तीवाला, नाचूँ पी-पी आज रे।
रामही नाचत, रामही बाजत, नाचूँ हो निरलाज रे ॥

स्वामी रामतीर्थकी आध्यात्मिक मस्ती

हृदयमें शान्ति है और दिलमें मस्ती। खुशीसे रामका हृदय भरा हुआ है और आँखें आनन्दके अमृतसे लबालब भरी हुई हैं। आनन्दके मारे आँसू टपक रहे हैं और रोम-रोम खड़े हो रहे हैं, गला रुक रहा है।

रिमझिम रिमझिम आँसू बरसें, यह अबर बहारें देता है!
क्या ख़ूब मजेकी बारिशमें वह लुत्फ़ वसलका लेता है!!
किश्ती मौजोंमें डूबे है, बदमस्त उसे कब खेता है!
यह गर्क़ाबी है जी उठना मत झिझको, उफ़! बरबादी है!
क्या ठंढक है, क्या राहत है, क्या शादी है, आज़ादी है!!

× × ×

जब उमड़ा दरिया उल्फ़तका, हर चार तरफ़ आबादी है।
हर रात नई इक शादी है, हर रोज मुबारकबादी है॥
क्या ठंढक है, क्या राहत है, क्या शादी है, आज़ादी है॥

प्रेममदका नशा अत्यन्त चढ़ा हुआ है, इसलिये अब चाहे कोई कुछ कहे, सारा संसार तो तुच्छ हो रहा है। पर यह नशा पागल मनुष्यकी पशु-वृत्तिके समान नहीं है। हे जगत्के रोग! तू अब रुखसत हो। हे भूख-प्यास! तुम दोनों मेरे पाससे परे हटो! यह जगह कोई कबूतरखाना, अर्थात् तुम्हारे रहने-सहनेका घर नहीं है। आहा! सौन्दर्यकी तेज ज्वाला कैसी भड़की हुई है। अब किस परवानेकी शक्ति है कि इसके आगे पर भी मार सके! सूर्य हो चाहे चन्द्र, पाठशाला हो चाहे बाग और पर्वत—इन सबमें अपनी ही सुन्दरता तरंगें मार रही हैं—अन्य किसी

रूपकी नहीं। हे मेरे प्राणो ! इस देहसे उठकर रामके स्वरूपमें लीन हो जाओ। और देह ऐसी हो जाय जैसी बदरीनारायणजीकी मूर्ति कि जिसमें बालकवत् चेष्टा भी नहीं है।

वसा है दिलमें मेरे वह दिलवर, है आईनामें खुद आईनागर !
अजब तहय्युर हुआ यह कैसा ? कि यार मुझमें मैं यारमें हूँ!!

रामका शरीर गंगा बहाये लिये जा रही है और राम मस्तीमें ॐ ! ॐ !! की ध्वनि कर रहा है। आज भी हिमालयके वन-पर्वत, गिरिगह्वरमें स्वामी रामकी ध्वनि गूँज रही है। अमेरिका, जापान और मिश्रवाले आज भी उस बादशाहको स्मरणकर भगवत्प्रेममें पागल होकर कह उठते हैं—

O Grave ! where is thy victory ?
O Death ! where is thy Sting ? *

* श्रीमन्नारायण स्वामी लिखित स्वामी रामतीर्थकी जीवनीके आधारपर।

माँ ! ओ माँ !!

जगज्जननी महामाये ! सृष्टि और प्रलय, जीवन और मृत्युके सूत्रको अपने हाथोंमें लेकर जब तुम एक बार अट्टहास करती हो तो उसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते और बन-बनकर मिट जाते हैं । माँ, सृष्टि तुम्हारा लास्य और प्रलय तुम्हारा ताण्डव है । तुम कराल काल हो, महामृत्यु हो । सृष्टिके पूर्व केवल तुम्हीं थीं और प्रलयके अनन्तर तुम्हीं रह जाती हो ! काली, दुर्गा और शक्ति तुम्हारा ही नाम है । 'विनाशाय च दुष्कृताम्' तुम्हारा व्रत है । रक्तबीजोंसे जब संसारका पुण्य त्राहि-त्राहि करने लगता है, जब धर्मको कहीं शरण नहीं मिलती तब देवि ! तुम खप्पर और करवाल लेकर अवतार लेती हो ! ओ माँ ! तुम्हारा यह रूप

कितना भीषण, कितना रौद्र है ! माँ ! तुम्हारा यह विकट रण-ताण्डव ! चण्डिके ! दुर्गे ! माँ कालिके ! तुम्हारा यह रूप देखकर तो हृदय भयसे थर-थर काँप रहा है ! यह भीषण रौद्ररूप ! घने-घने काले केश खुले हुए हैं। काला डरावना भैरव वेश ! मस्तकपरके नेत्रसे क्रोधाग्नि धधक रही है। उससे प्रखर दाहक ज्वाला धाँय-धाँय कर रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त संसार इस क्रोधाग्निमें भस्म हुआ जा रहा है। दुर्गे ! तुम्हारे इस तीसरे नेत्रकी ज्वाला !! तुम्हारी और भी दोनों लाल-लाल आँखोंसे चिनगारियाँ बरस रही हैं। उससे कराल किरणें फूटी निकलती हैं। माँ भैरवि ! तुम्हारे मस्तकपर सिन्दूरका जो बड़ा टीका लगा है वह भी कितना भयावना है ! और गलेकी मुण्डमाला ! उफ् ! इतना भैरव, इतना प्रकुस ! माँ ! तुम्हारा चन्द्रहार नरमुण्डमालाका क्यों ? यह दुहरी-तिहरी मुण्डमाला। कितना भयानक, कितना वीभत्स ! उन नरमुण्डोंके मस्तकपर तुमने श्मशानका भस्म लगाकर इंगुरकी बेंदी लगा दी है। माँ ! यह कैसा विकराल प्रलयङ्कररूप ! उफ् ! तुम्हारी लाल-लाल जीभ छातीतक लटक रही है और उससे खून टप-टप चू रहा है। दाहिने हाथमें करवाल है और बायें हाथमें खप्पर ! करवाल भी खूनसे लथपथ है। और तुम्हारा यह खप्पर ! रक्तसे भरा खप्पर ! ना, ना; यह खप्पर कभी भी भरेगा? जब तुम अट्टहास करके शत्रुपर झपटती हो उस समय माँ ! इस खप्परके रक्तमें भी एक आन्दोलन उठ खड़ा होता है। उफ् ! तुम्हारी प्यासी तलवार ! तुम्हारा लोहू-भरा खप्पर ! तलवारकी

प्यास न बुझेगी, न यह खप्पर ही कभी भर पायेगा । सिंहवाहिनी माँ ! जब तुम सिंहके समान असुरोंपर झपटती हो उस समय तुम्हारे मुक्त कुन्तल फहरा उठते हैं—आँखोंसे आग बरसने लगती है । लपलपाती हुई जीभ—असुरोंका रक्त पीनेकी अभ्यस्त जीभ ! अनादिकालसे तुम असुरोंके महानाशमें संलग्न हो; पर तुम्हारा खप्पर न भरा, करवालकी प्यास न बुझी, रक्त पीनेसे तुम्हारा जी न भरा ! पियो, पियो भगवतो भैरवि ! जगज्जननी दुर्गे ! असुरसंहारिणी कालिके ! पियो, पियो रक्तबीजोंका लोहू ! उफ् ! यह कितना रौद्र, माँ ! जब तुम अपने अधरोंको खप्परसे सटाकर रक्त पीने लगती हो—उस समय, उस समय जब एक क्षणके लिये अपने उन्मद नेत्रोंको ऊपर उठाकर विकट अट्टहास करती हो !! फिर खप्परमें मुँह सटाकर जब उसमें अपनी कराल काल-स्वरूपिणी लपलपाती हुई जिह्वाको डुबोती हो !! माँ चामुण्डे ! पियो, पियो, असुरोंके रक्तको पियो ! और माँ ! तुम्हारा ताण्डव ! प्रलयकी छातीपर तुम्हारा महाविकराल ताण्डव ! श्मशान-भूमिमें तुम्हारा प्रलय-ताण्डव और उसका रौद्ररूप ! उस समय तुम खप्परको सिरके ऊपर उठा लेती हो और दाहिने हाथका करवाल आकाश चूमने लगता है । तुम्हारे केश हवामें खड़े हो जाते हैं । दोनों नेत्रोंमें रक्त आभा होती है और तीसरेसे प्रलयाग्निके क्रोध-स्फीत स्फुलिङ्ग बरसने लगते हैं । गलेकी मुण्डमाला पदसञ्चालनकी गतिके साथ कभी कटिके दक्षिण-पार्श्वको और वाम-पार्श्वको स्पर्श करती है । तुम्हारी लपलपाती हुई लाल जीभ ऊपरकी ओर मुड़ती है

और तुम खूब जोरसे अट्टहास करके नाच उठती हो ! उस समय तुम्हारे पाँवके पायजेब और घुँघरू झमाझम बोल उठते हैं और तुम उन्मत्त रणचण्डिकारूपमें अपने अलस-उन्मदताण्डवमें सुध-बुध खोकर नाचने लगती हो । उस समय माँ ! कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेष—तुम्हारी नूपुरध्वनिमें अपनी ध्वनि मिलाकर नाच उठते हैं । सब दिशाएँ, नर-नाग, किन्नर-गन्धर्व—तुम्हारे चरणोंमें भीतभावसे मस्तक टेक देते हैं !! माँ, ओ माँ!

* * *

माँ ! अपनी ज्वाला आप ही सँभालो । यह ज्योति मुझसे सही नहीं जाती । दयामयी जननी ! अपना रौद्र रूप समेट लो । माँ भैरवि ! मुझे तुम्हारे सौम्यरूपकी भी झाँकी लेने दो; माँ ! दयामयी माँ !

माँ ! तुम्हारा यह सौम्य, शान्त, पावन, कोमल, करुण-प्रेमिल रूप ! महामाये ! महादुर्गे ! माँ शक्ति ! तुम्हारा यह स्नेहिल रूप कितना पावन, कितना सौम्य है !

माँ सरस्वती ! माँ, ओ माँ ! तुम्हारा यह मङ्गलरूप ! तुम्हारा यह कल्याणरूप ! तुम्हारी यह स्निग्ध शीतल कान्ति ! अह ! हृदय श्रद्धा और प्रेमसे तुम्हारे चरणोंमें नत है ।

माँ ! तुम्हारा यह हृदयहारी रूप ! श्वेत-पद्मकी सुविकसित पँखुड़ियोंपर तुम सुखासीन हो । तुम्हारा वाहन हंस जलमें केलि-कुरेल कर रहा है । दिव्य-वीणाके स्वर्गीय तारोंपर तुम्हारी कोमल-

कोमल अँगुलियाँ नाच रही हैं। एक हाथमें वेद है, और दूसरे हाथकी अभय-मुद्रा ! धपधपाती हुई स्निग्ध-कोमल-धवल कान्ति ! कितनी भव्य, कितनी चित्ताकर्षक पावन-मङ्गलमूर्ति है। हृदयमें पावनताका महासमुद्र उमड़ रहा है, प्राणोंमें तुम्हारी स्निग्ध-कोमल मधुर कान्ति प्रेम भर रही है। तुम विद्या, बुद्धि, विवेक और ज्ञानकी देवी हो ! कैसा मङ्गलमय है तुम्हारा रूप—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥

और माँ ! महालक्ष्मी भी तो तुम्हीं हो। सकल ऋद्धि-सिद्धिकी अधिष्ठात्री, समस्त वैभवकी जननी, समस्त सुख-सुहाग-ऐश्वर्यकी दात्री माँ ! रक्तकमलपर तुम्हारे कोमल चरण समासीन हैं। कैसा सुन्दर रूप है। लाल रेशमी साड़ी पहने हुए हो। एक हाथमें कमल है, दूसरेमें शङ्ख। और अभयदान दे रही हो तीसरे हाथसे। तुम्हारी आँखोंसे कैसी स्निग्ध द्युति छलक रही है—और सरोवरमें खिले हुए कमलोंके बीच ऐरावत अपनी सूँडमें कमलकी माला लेकर तुम्हारे चरणोंमें समर्पित करनेके लिये उत्सुक है ! इस रूपमें समस्त विश्व, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तुम्हारे चरणोंमें अपना हृदय-कमल समर्पित कर रहे हैं। माँ नारायणी ! तेरी जय हो जय हो !!

* * *

देवि ! जगज्जननी महामाये ! तुम्हारा सरस्वती और लक्ष्मीरूप कितना सौम्य और कितना स्निग्ध है । जी चाहता है, अपनेको चढ़ा दूँ इस मधुर-मनोहर देवीके पाद-पद्मोंपर ! माँ ! तेरी झाँकी बनी रहे—इससे अधिक इस आतुर हृदयके लिये क्या चाहिये !

ऐं ! जगज्जननी महासती पार्वती तुम्हारा ही नाम है । तुम्हींको न त्रिभुवनमोहन शङ्करने वरा था ! माता पार्वती ! तुम्हारे पावन चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम है । देवताके साधनमें तुम्हारी कठोर तपश्चर्या ! 'वरौं संभु नतु रहौं कुँवारी' की तुम्हारी भीषण प्रतिज्ञा और उस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये जीवनको तपस्याकी आगमें झोंककर, निरावरण होकर, सर्वशून्य होकर अपने प्राणनाथके चरणोंमें सर्वात्मसमर्पण !

प्रेमकी कैसी विकट परीक्षा थी । सप्तर्षि आये और तुम्हें विचलित करनेकी चेष्टा करने लगे । उस समय तुमने जिस अविचल श्रद्धा, अगाध प्रेम और अटूट भक्तिका परिचय दिया था उसके जोड़ संसारमें नहीं मिला । आज भी स्त्रियाँ माँगमें सिन्दूर देते समय सतीत्वके आदर्शरूपमें माता गौरी—पार्वतीका ध्यान करके उनकी माँगमें सिन्दूर सभक्ति डाल देती हैं । आज भी संसारमें जहाँ सतीत्वकी बात आती है वहाँ, माँ अन्नपूर्णे ! परमकल्याणि देवि ! तुम्हारा ही नाम गर्वके साथ लिया जाता है । सतीत्वके आदर्श-रूपमें तुम्हारा गुणगान समस्त विश्व कर रहा है ! और इसी प्रेमने तुम्हें शिवके चरणोंमें पहुँचाया ।

माँ ! ओ माँ !!

माँ ! तुम्हारा कैसा मङ्गलरूप है । कैसा अपूर्व तुम्हारा परिवार है और कैसे अपूर्व हैं उनके वाहन ! मेरे सम्मुख जो मूर्त्ति है वह तो बहुत ही आह्लादकारी और वात्सल्यपूर्ण है । तुम मङ्गलमूर्त्ति मोदकप्रिय शिशु गणेशको गोदमें लेकर सोनेके कटोरेमें रक्खी हुई मिठाई खिला रही हो और गणेशजी कभी-कभी अपनी सूँड़ स्वयं कटोरेमें डुबा देते हैं । भगवान् शङ्कर यह देखकर मुसका रहे हैं । माँ ! तुम्हारे कोमल चरण-कमलोंमें सादर सभक्ति कोटि-कोटि प्रणिपात विनम्र !!

* * *

सीता और राधा भी तुम्हीं हो अम्बे ! पातिव्रत्यके आदर्शरूपमें सीता और प्रेमके आदर्शरूपमें राधा तुम्हीं हो । सेवा, समर्पण, त्याग तथा आत्माहुतिमें सीता और राधा संसारमें सदाके लिये अमर हैं ।

भगवान् राम संसारमें आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम और भगवती सीता संसारमें आदर्श सती ! पतिके वन जानेकी बात सुनकर सीताने कहा—छाया अपने आधारको छोड़कर कहाँ रहेगी ? चाँदनी चन्द्रमाको छोड़कर कहाँ रहेगी ? वह दृश्य बार-बार आँखोंमें फिर जाता है—अभिषेकके राम तपस्वीवेशमें वनको जा रहे हैं, पीछे-पीछे लक्ष्मण और सीता । वह सीता महारानी, जिन्होंने कभी जमीनपर पैर नहीं रक्खा था, नंगे पैर वनको जा रही हैं । घरसे निकलकर दो डग भी नहीं बढ़े थे कि माताके मुखमण्डलपर स्वेदकण आ गये और थककर लक्ष्मणसे पूछती हैं—अभी वन कितनी दूर है ?

पतिकी इच्छामें अपनी इच्छाओंको लय करके प्रेमके आदर्श लोककी सृष्टिकर सीता भारतके प्रत्येक स्त्री-हृदयके सिंहासनपर समासीन हैं। भारतीय स्त्रीत्व अपने गौरवके लिये विश्वविख्यात है। और उस गौरवकी आधार हैं भगवती सीता। यही कारण है जिससे गङ्गा, गायत्री और गीताके साथ महारानी सीताका नाम जुड़ा हुआ है।

माँ! तुम्हारे पावन चरणोंमें अजस्र सहस्र विनम्र प्रणिपात स्वीकार हो!! माँ, माँ, ओ माँ!

और राधा रानी?

राधे! राधे! प्रेमके आदर्शलोकमें समर्पणकी प्रखर विद्युत्-किरण छिटकाकर, माधवके नूपुरोंमें अपने प्राणोंकी झङ्कार मिलाकर आज तुम प्रेम-लोककी अधिष्ठात्री बन गयीं। हरिके अधरोंका रस और चरणोंका चुम्बन केवल तुम्हारे ही हिस्से पड़ा था! माँ! तुम्हारे मधुर-कोमल चरण-तलमें मेरा कोटि-कोटि सभक्ति चुम्बन!! माँ! मेरी प्रेममयी माँ!!

मृत्यु क्या है ?

संसारमें मनुष्य जितना मृत्युसे डरता है उतना किसी भी अन्य वस्तुसे नहीं। यह शरीर जिससे हमारा इतना गहरा ममत्व है—एक दिन भस्म हो जायगा—यह चलता-फिरता मकान ढहकर मिट्टीमें मिल जायगा—इस कल्पनासे ही हम काँप उठते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। मेरे अपने गाँवकी बात है। एक नीच जातिकी स्त्री थी, अस्सी बरसके ऊपर होगी। उसका इस संसारमें कोई भी नहीं था। वह मृत्युशय्यापर कराह रही थी और अन्तिम साँस ले रही थी। मैं अपने एक मित्रके साथ उसे देखने गया। उसका कष्ट देखकर हमारा हृदय द्रवित हो गया। मैंने धीरेसे अपने मित्रसे कहा—अब तो भगवान् इसे उठा लें

तभी अच्छा है, यह वेचारी बहुत दुःख भोग रही है। इतनेमें देखता क्या हूँ कि वह वृद्धा आँखें गुरेरकर मेरी ओर देख रही है, मानो निगल जायगी। मैं घबड़ा गया—यह सोचकर कि इस वेचारीके अन्तिम क्षण दुखी बनानेका कारण मैं हुआ। परन्तु मृत्यु तो द्वारपर आ चुकी थी। वह द्वार खटखटा चुकी थी, तुरत ही उस वृद्धाके मुखमें तुलसी-गङ्गाजल दिया गया और उसके कुछ ही क्षण अनन्तर 'भूमि-शय्या' देते-देते उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। घंटे दो घंटेके पश्चात् 'राम नाम सत्य है' 'श्रीराम नाम सत्य है' के करुण निनादके साथ लोग शवको लेकर गङ्गा-जीकी ओर चले।

मृत्यु जीवनकी एक ध्रुव और निश्चित घटना है। 'आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर' एक ध्रुव सत्य है। जाना है अवश्य, 'जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः' भगवान्के वचन हैं। यह सब कुछ रह जायगा—केवल हम उठ जायँगे। अँग्रेजीमें मुहाविरा है "As sure as death"—मृत्युकी भाँति निश्चित। परन्तु मजाक तो यह है कि मौत रानी कब द्वार खटखटा देगी—इसका कुछ पता नहीं। हम आँख मूँदकर जीवनकी दौड़ दौड़ते जा रहे हैं कि मौतकी अगाध खाई आती है और हम धड़ामसे उसमें गिर जाते हैं, ऊपरवालोंको पता नहीं चलता कि जीवनका यह खिलाड़ी कहाँ छिप गया! बड़ी विचित्र है जीवन और मृत्युके बीचकी आँखमिचौनी! गजबका है यह चलता-फिरता अजायबघर!

मृत्यु क्या है ?

मृत्यु टाली नहीं जा सकती। वह तो आकर बैठी है—और प्रतिपल जीवनको निगल जानेके लिये बाघिनकी तरह मुँह बाये खड़ी है। हम प्रतिक्षण मृत्युकी ओर द्रुत गतिसे चले जा रहे हैं। यों कहा जाय तो ठीक होगा कि हमारा एक पग मृत्युकी खाईमें ही है, अब गिरे, तब गिरे; और उस समय ? उस समय यह महल-अटारी, सुख-भोग, राज-पाट, धन-दौलत ! उफ़ ! इसकी तो तब चर्चा भी नहीं अच्छी लगती—मृत्युके बाद इनका अपने साथ क्या सम्बन्ध रह जाता है। फिर ये अपने किस कामके ?

मृत्युके समयकी कल्पना कीजिये। चारों ओरसे अपने स्वजन घेरे हुए हैं। पत्नी सिरहाने बैठी रो रही है। लड़के पैताने खड़े हाय-हाय कर रहे हैं, अब अन्तिम साँस चल रही है। इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयी हैं। आँखें आधी खुलती हैं तो चारों ओर अन्धकार, हाहाकार और चीत्कार ! जन्मभरके किये हुए पाप, अपराध, त्रुटियाँ और सन्ताप घेरे हुए हैं। कुछ कहते नहीं बनता, कुछ सुनते नहीं बनता ! इस हाहाकारके बीच कोई अपना सच्चा साथी नहीं दीखता। ये सभी क्षणभरमें साथ छोड़ देनेवाले हैं—सामने भीषण अन्धकार है। उसमें साथ देनेवाला कोई अपना नहीं है। क्या करें, कहाँ जायँ ? हाय, जिन्हें मैंने प्राणोंसे भी प्रिय समझकर छातीसे चिपका रक्खा था वे आज साथ छोड़ रहे हैं ! प्रभो ! दीनबन्धो !

इसी अन्तिम क्षणको लेकर संसारके समग्र दर्शन, धर्म, मत, सिद्धान्त, जप, तप, पूजा, पाठ, नियम, व्रत आदि हैं। वह अन्तिम क्षण—जिसमें हम संसारसे कूच कर रहे हैं प्रभुमय हो, मङ्गलमय हो, आनन्दमय हो, बस इसीके लिये जीवनभरके जप-तप-पूजा-पाठ हैं। उसीके लिये जीवनभर अभ्यास करना है। जिस प्रकारकी भावना जीवनभर हमारी रहेगी वैसी ही मृत्यु हमारी होगी। बहुधा देखा जाता है कि कुछ लोगोंको मरते समय मुखसे 'राम-नाम' निकलना कठिन हो जाता है। वे मोहसे इतना अधिक घिर जाते हैं कि कुछ सूझता ही नहीं। अभी कुछ ही दिन पूर्व-की घटना है। मेरे गाँवके एक सम्पन्न व्यक्ति जीवनभर सूदपर रुपया चलाते रहे। उनका दिनभरका काम था बहीके पन्ने खोलकर रुपयोंपर सूद बैठाना और उन रुपयोंकी बढ़ती हुई संख्या-पर गद्‌गद होना। रात भी उनकी इसी चिन्तामें बीतती थी। जीवनमें उनके तीन साथी थे—उनके आसामी, रुपया और उनकी प्यारी बही। कोई बाल-बच्चे नहीं थे। एक स्त्री थी, वह भी रात-दिन रुपयोंकी चिन्तामें सूखी जाती थी। हाँ, मेरा प्रयोजन तो यहाँ उनकी मृत्युकालकी घटनासे है।

सन्ध्याका समय था। वे मृत्यु-शय्यापर पड़े हुए थे। चारों ओरसे उनके परिजन घेरे खड़े थे। अन्तिम क्षण उनकी आँखें खुलती हैं—कभी किसीपर दृष्टि जाती है, कभी किसीपर। हैंडनोटोंका पुलिन्दा सिरहाने पड़ा है। किसीपर अँगूठोंके छाप नहीं लिये गये हैं, किसीपर टिकट नहीं साटा गया……बस,

इसी हाय-हाय, चिन्ता-परेशानीमें उनके प्राण पयान कर गये। लोगोंने बड़ी चेष्टा की कि अन्तिम क्षण 'राम-नाम' उनके मुखसे निकल सके ! परन्तु उस समय तो जो उन्हें 'राम-नाम' कहनेको कहता उसे वे अपना शत्रु समझ रहे थे, यह सोचकर कि यह व्यक्ति हमारे रुपये-पैसेको डकार जाना चाहता है ! आखिर मर गये पर 'राम-नाम' नहीं निकला।

मृत्युका मुकाबला करनेके लिये ही जीवन है। जीवन ऐसा रहा जाय कि मरते समय एक विचित्र प्रसन्नता, एक अपूर्व आनन्द-का उल्लास हो। उस समय यह संसार, इसका लुभावना रूप न रहे, स्वजन न रहें, पुत्र-कलत्र भी न रहें, घर-द्वार न रहे, कोई न रहे, कुछ न रहे—केवल प्रभु-ही-प्रभु रहें; हरि-ही-हरि रहें।

जब आवें आँखमें दम प्राणप्यारे। लगा हो ध्यान चरणोंमें तुम्हारे॥
कदमकी छाँह हो जमुनाका तट हो। अधर मुरली हो माथे पै मुकुट हो॥
खड़े हों आप इक बाँकी अदासे। मुकुट झोकोंमें हो मौजे हवासे॥
बराबरमें हों श्रीराधाकिशोरी। मधुर सुर बाँसरी बजती हो पूरी॥
गिरे गरदन ढुलककर पीत पटपर। खुली रह जायें ये आँखें मुकुटपर॥
दुशालेकी एवजमें हो ब्रजकी धूल। पड़े उतरे हुए सिंगारके फूल॥
मिले जलनेको लकड़ी ब्रजके बनकी। बने अक्सीर यों फुँककर बदनकी॥
गर्ज इस तरह हो अंजाम मेरा। तुम्हारा नाम हो और काम मेरा॥
जुबाँ जबतक दहनमें हो न बेकार। पुकारा ही करै सिरकार सिरकार॥
भरोसा है मुकुटधारी तुम्हारा। तुम्हारा ही है बनवारी तुम्हारा॥
गर्ज हो जब कभी झगड़ा मेरा तै। कहैं सब बोलो राधाकृष्णकी जै॥

बस, उस समय, प्राणविसर्जनकी उस अन्तिम बेलामें कोई, कुछ न रहे, हमारे प्राणोंको प्रभुजीका शीतल, मधुर, पावन स्पर्श

अनुभव होता रहे। उस स्पर्शकी शीतलतामें हमारे रोम-रोम पुलकित हो उठें—होंठोंपर एक हल्की-सी मुसकान हो और उसी मुसकानमें·······!!

ऐसी मौत कौन नहीं मरना चाहेगा? मरनेमें यदि इतना आनन्द हो तो उसे पानेके लिये भला कौन न लुभा जाय? परन्तु है यह बहुत महँगा सौदा। जीवनके अन्तिम क्षण प्रभुके दर्शन और उनके मधुर स्पर्शको प्राणोंके भीतर पानेके लिये यह आवश्यक है कि जीवनभर प्रभुका ही स्मरण, चिन्तन, ध्यान, पूजन और कीर्त्तन हो। गीताजीमें भगवान्‌ने बहुत समझाकर विस्तारसे इसकी व्याख्या की है। भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है कि अन्त-कालमें जो मुझे स्मरण करता हुआ प्राणविसर्जन करता है वह मुझमें ही आ मिलता है। कुछ लोग इस वचनसे यह लाभ उठा सकते थे कि चलो जबतक हाथ-पैर चलते हैं मौज कर लो, सुखोंको लूट लो—अन्तमें 'राम-नाम' का स्मरण कर लेंगे। परन्तु वैसा होना सम्भव नहीं है। जीवनभर जो विषयोंका सेवन करता रहेगा उसे अन्तिम क्षणमें विषय ही स्मरण रहेंगे और जीवनभर जो प्रभुका स्मरण करता रहेगा उसे अन्तिम क्षणमें प्रभु ही स्मरण आवेंगे। जीवनभर विषयोंका सेवन करनेवाला व्यक्ति यह आशा करे कि अन्तिम क्षण वह 'राम-नाम' ले सकेगा और प्रभुको स्मरण कर सकेगा—यह सर्वथा असम्भव ही समझना चाहिये, नहीं तो भगवान्‌को—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

—क्यों कहना पड़ता ?

मृत्यु एक ही साथ बहुत ही भीषण और बहुत ही मधुर है। भीषण उन लोगोंके लिये है जो संसारकी ममता, मोह, आसक्तिमें उलझे पड़े हैं; मधुर उन लोगोंके लिये है जो रात-दिन अपना जीवन प्रभुमय व्यतीत करते हैं। प्रभुमय जीवनकी मृत्यु भी प्रभुमय होती है। मरते समय भक्त अपने जीवनका पुष्प हाथोंमें लेकर प्रभुके चरणोंमें चढ़ाकर विनीतभावसे कहता है—'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'। वह उस क्षण प्रफुल्ल रहता है। उसे न कोई चिन्ता है, न भय; उसे न आसक्ति है, न शोक, न मोह, न ग्लानि।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः !

मृत्युको संतों और भक्तोंने एक अपूर्व कुतूहल-दृष्टिसे देखा है। मृत्युको लेकर एक ओर तो संसारसे वैराग्य स्थापित हुआ दूसरी ओर इसे 'साजन' के देशका निमन्त्रण माना गया। मृत्युसे संसारकी अनित्यता और क्षणभङ्गुरता ही नहीं प्रमाणित हुई—जन्म-जन्मसे हम अपने 'प्राणधन' को खोजते आ रहे हैं—और हमारी खोज मृत्युको भी लाँघकर चलती रहेगी—यह भी प्रमाणित हुआ। कबीरने मृत्युको साजनके देशका निमन्त्रण माना है। प्रीतमकी बुलाहट है 'मिलन-मन्दिर' में। मृत्यु उस मिलन-मन्दिर-का द्वार है, इसे पारकर 'शीश-महल' में साईंकी सेजपर पौढ़नेको मिलेगा। इस सम्बन्धमें कबीरका—

करले सिंगार चतुर अलबेली साजनके घर जाना होगा।

सहज ही स्मरण हो आता है। कबीरने तो 'अलबेली' को नहाने-धोने, माँगमें सिन्दूर लगाकर नयी लाल साड़ी पहिननेकी सलाह दी है क्योंकि उनके विचारसे यह 'मिलन' परम मिलन होगा और पुनः वहाँसे लौटना न होगा।

न्हाले, धोले, सीस गुँथाले, फिर वहाँसे नहिं आना होगा॥

मृत्युके सम्बन्धमें जहाँ इतनी सुन्दर और मधुर भावना है वहाँ यों भी है—

हमकाँ ओढ़ावै चदरिया, चलती विरियाँ॥
प्रान राम जब निकसन लागे
उलट गई दोउ नैन पुतरिया।
भीतरसे बाहर जब लावै,
छूटि गई सब महल अटरिया॥
चारि जंने मिलि खाट उठाइनि,
रोवत लै चले डगर डगरिया।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो,
संग चली वह सूखी लकरिया॥
हमकाँ ओढ़ावै चदरिया, चलती विरियाँ॥

उपनिषदोंमें मृत्युको जीतनेकी विधि बहुत विस्तारसे बतलायी हुई है। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियोंने जीवनमें ही मृत्युको पी लिया और मृत्युके 'उस पार' के देशको देखा था। उन्होंने आँखें बन्दकर अपनी आत्माकी ज्योतिमें इस जगत्के नाम और रूपका लोप कर दिया था। उनके लिये यह विश्व भी एक दिव्य आर्ष

कविता है, भगवान्‌का मधुर संगीत है। आँखें खोलकर जब वे संसारकी ओर देखते तो यह संसार जो हमलोगोंके लिये इतना विकराल प्रतीत होता है उनके लिये ब्रह्ममय था, वासुदेवमय था। 'उस'के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अणु-अणुमें 'वह' ओत-प्रोत है। कोई स्थान नहीं जहाँ परमात्मा न हो। आँखें खोलकर जब वे 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' का साक्षात्कार करते और उस विराट्-ज्योतिमें अपनी आत्माकी ज्योतिको एक कर देते तो द्वैत नामको कोई वस्तु रह नहीं जाती। वे 'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति' की दिव्य अनुभूतिमें निरन्तर जागते रहते। जिसने संसारके इन बनते-मिटते चित्रोंमें अविच्छिन्नरूपसे प्रभुका साक्षात्कार कर लिया उसके लिये मृत्यु कैसी ?

मृत्युके सम्बन्धमें एक भारी भ्रम काम कर रहा है। हममेंसे प्रायः सभी यह समझते हैं कि मृत्यु जीवनकी 'इति' है। जो वैसा सोचते-समझते हैं वे जीवनके वास्तविक अर्थसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। जीवनकी गङ्गा तो प्रभुसे निकलकर प्रभुमें ही मिलेगी। मृत्यु जन्मका उलटा हो सकती है, जीवनका नहीं। सुख-दुःख, पुण्य-पाप, दिन-रात, आशा-निराशाकी जैसी जोड़ी है वैसी ही जन्म-मृत्युकी, न कि जीवन-मृत्युकी। जीवनका प्रवाह तो एक है, सनातन है, दिव्य है। वह कई योनियोंमेंसे होता हुआ, पूर्ण होनेके लिये व्याकुल होता हुआ चलता जा रहा है। इसकी गति तो तबतक रुक नहीं सकती जबतक स्वयं अनन्त न हो जाय। एक ही जीवन-क्रममें कई जन्मोंकी शृङ्खला लगी है। जो जन्मता

है सो मरता है अवश्य, परन्तु मृत्युको चीरकर भी तो जीवनका प्रवाह चलता रहता है। जीवन और जन्म दो चीज हैं।

ठीक इसी भावको एक आत्मदर्शी अंग्रेज कविने बहुत सुन्दर शब्दोंमें रखा है—

Birth is not the beginning of life,
Nor is death its ending,
Birth and death begin and end
Only a single chapter in life story.

इसका सरल भावार्थ यह है कि जन्म ही जीवनका आरम्भ नहीं है, न मृत्यु ही इसका अन्त है। जन्म और मृत्यु तो बस जीवनके एक अध्यायका अथ और इति है।

यह नन्हा-सा जीवन जो हम अपने इस जन्म और इस मृत्युके बीच देख रहे हैं हमारे अमर सनातन जीवनका एक अंश है। नदीकी धारा बहती है। बीचमें पुल आ जाता है जिसकी एक हल्की-सी पतली छाया-रेखा नदीकी धारापर पड़ जाती है। परन्तु धारा तो उस क्षीण रेखाकी चिन्ता नहीं करती। वह तो अनवरतरूपसे बहती ही चली जाती है और तबतक बहती चली जायगी जबतक वह समुद्रमें अपना नाम-रूप गँवाकर एक न हो जाय। नदी तो समुद्रमें लय होकर ही शान्त होगी। बीचमें तो वह रुकनेको नहीं। इसी प्रकार यह जीवनकी धारा भी प्रभुके अनन्त प्रेममें ही जा मिटेगी। इसे जन्म और मृत्युके कितने द्वार लाँघकर छोटे-छोटे जीवनोंके कई समतलको चीरकर बहते रहना

है। ऐसा समझ चुकनेपर फिर अमर जीवनके इन छोटे-छोटे अध्यायोंके अथ-इतिसे घबड़ानेकी कोई बात नहीं।

करना तो बस एक ही काम है—और वह यह है कि हमारे अमर अनन्त जीवनका यह छोटा-सा अध्याय जो हमारे सामनेसे चल रहा है किसी प्रकार दूषित और कलङ्कित न होने पावे। यह अध्याय जितना ही सुन्दर होगा उतना ही विकास अगले अध्यायमें निश्चित है। यावत् चर-अचरमें प्रभुका साक्षात्कार करते हुए समस्त वसुन्धराके लिये प्रेम रखना ही जीवनका सच्चा सदुपयोग है। जो कुछ हम देख रहे हैं, जो कुछ सुन रहे हैं—स्पर्श कर रहे हैं सभी प्रभुके माधुर्य और सौन्दर्यसे ओत-प्रोत हैं। प्रभुके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, इस प्रकार अखिल चराचरमें अपने 'हरि' का साक्षात्कार करते हुए हम प्रत्येक पल ऐसा ही आचरण करें जैसा हम अपने 'प्राणोंके प्राण' और जीवनके सर्वस्वके साथ कर सकते हैं। प्रेम ही प्रभुकी सच्ची प्रार्थना है।

He prayeth best who loveth best,
Both man and bird and beast,
He prayeth well who loveth well,
All things both great and small.
—*Coleridge.*

यों तो बाहरसे संसार पाप, घृणा, द्वेष, कलह, वैर, संहार आदिसे जल रहा है। परन्तु पर्दा हटाकर 'जल्वए इश्क' की एक झाँकी जिसने कर ली उसके लिये तो 'नेह नानास्ति किञ्चन' का अनुभव सहज ही हो जायगा। जगत्‌के इस आवरणके भीतरका

जो मधुर अभिनय है उसे देखनेके लिये कितने हैं जो आगे आकर प्राणोंकी भेंट चढ़ानेके लिये तैयार हैं ? एक बार भी, एक क्षणके लिये भी जिसने अपनी आत्माकी ज्योतिकी तद्रूपता विश्वात्माकी समग्र विराट् ज्योतिमें स्थापित कर ली उसके लिये क्या जीवन और क्या मृत्यु ? चेतन और अचेतनकी समष्टिमें भी तो हमारी आत्मा ही विश्वरूपमें प्रतिभासित हो रही है—मेरा अहं ही सर्वत्र व्याप्त है फिर मृत्यु कैसी; आना कैसा और जाना कहाँ ?

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यह बात सच है कि अमर जीवनके इस समग्र रूपको ठीक-ठीक देख पाना बहुत कठिन है, हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने इसे अवश्य देखा था। इस बनने-मिटनेवाली कायाको ललकारकर कबीरने कहा है—

प्राण कहे सुनु काया मेरी तुम हम मिलन न होय ।
तुम सम मीत बहुत हम कीना संग न लीना कोय ॥

रविबाबूने भी अपनी एक कवितामें इस अमर अनन्त जीवन-का साक्षात्कार करते हुए लिखा है—'आज वही बात याद आ रही है, युग-युगान्तरसे स्खलित होकर चुपचाप रूपसे रूपमें, प्राणसे प्राणमें संक्रमित होता हुआ चला आ रहा हूँ। आधीरात हो या प्रातःकाल, जब जो कुछ हाथमें आया—सब कुछ लुटाता आया हूँ। दानसे दानको, गानसे गानको।' इस प्रकार मृत्यु जीवनको पूर्ण करती हुई आती है और नया जीवन दे जाती है।

इस सम्बन्धमें आत्मदर्शी अंग्रेज कवि ब्राउनिंग (Browning) की 'The best is yet to be' वाली कविता विश्व-साहित्यमें अमर है। उसमें कविने बड़े ही भावपूर्ण जोरदार शब्दोंमें यह प्रमाणित किया है कि प्रतिपल हमारा विकास होता जा रहा है। प्रतिक्षण हमारा जीवन सुन्दर-सुन्दरतर होता जा रहा है। हमारे जीवनकी जो डिजाइन ईश्वरके हाथमें है उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। जो कुछ हम देख रहे हैं वह हमारे अमर जीवनकी अधूरी, अस्पष्ट और धुँधली छाया है। बुढ़ापा अभी निकलनेवाली कलीका उपक्रम है।

इसीलिये कविने हर्ष और उत्फुल्लताके साथ जीवनके प्रत्येक कष्ट और कठिनाईका स्वागत किया है। कष्टों और कठिनाइयोंसे तो जीवन चमक उठता है और उनके कारण हम कर्म-पथमें और भी उत्साह और उल्लाससे बढ़ते हैं—

Then welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough
And makes not sit, nor stand but go.

'सारे कष्टों और कठिनाइयोंको स्वागत ! इसने जीवनके समतलको ऊबड़-खाबड़ बना दिया है और इसीकी प्रेरणा न हमें बैठने देती है, न खड़े होने; इसके कारण हम सतत चलते ही रहते हैं।' जीवनकी अमर धाराको ठीक-ठीक हृदयमें उतारकर संसारकी ओर निहारनेपर इसके सभी शूल फूलके समान दीखेंगे।

परन्तु जो अमरजीवनकी अनन्त धाराकी कल्पना भी नहीं कर सकते उनके लिये ? वे भी मृत्युकी इस भीषणताको तो मिटा सकते हैं। भगवान्‌ने 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' कहा है। मृत्युरूपमें भी भगवान्‌के ही दर्शन होते हैं। 'प्राणनाथ' चाहे जिस रूपमें आवें प्राणोंको प्रिय ही होगा। इसी भावको लेकर एक तुकबन्दी लिखी गयी थी—

आज है कूच, विदाई आज।
आज बुलाहट है अपनेमें मुझे मिला लेनेको।
प्राणोंके धब्बे हिरदयके दाग मिटा देनेको॥
पाप और त्रुटियोंकी मेरी सुन्दर सतत कमाई।
आओ चलें आज प्रियतमसे मिलनेकी वेला आई॥
वहाँ चिरमंगलमय साम्राज।
आज है कूच, विदाई आज॥
जाता हूँ पियकी नगरी, हाँ मेरा आज प्रयाण।
चिरसुन्दर अमरत्व जहाँ है, चिरसुन्दर कल्याण॥
आज सभीकी आँख बचाकर जाने दो, जाने दो।
अन्तिम बार प्रलयके गायन गाने दो, गाने दो॥
प्रलयमें सृष्टि छबीली आज।
आज है कूच, विदाई आज॥

जड-उपासना

चेतन और जड, विद्या और अविद्या, प्रकाश और अन्धकार, गुण और दोषसे पूर्ण यह विचित्र सृष्टि रचकर प्रभुने मनुष्यको विवेक तथा बुद्धि दी जिसके सहारे वह जड, अविद्या, अन्धकार और दोषका परित्याग कर चेतन, विद्या, प्रकाश और गुणका आश्रय लिये रहे और अपने सत्यस्वरूपको जानते हुए परमात्मपथमें उत्साह और उल्लासके साथ चले । मनुष्यके विवेक और बुद्धिमें जबतक परमात्माका प्रकाश जगमगाता रहता है तबतक वह अपने उद्देश्य-पथपर निश्चलरूपसे चलता रहता है । शुद्ध बुद्धिका लक्षण यह है कि उसमें परमात्माका आश्रय, भगवान्‌का भरोसा अक्षुण्णरूपसे बना रहता है । शुद्ध

बुद्धि जगत्को न देखकर जगत्के स्वामीको देखती हैं। उसे प्रपञ्चका आवरण ढक नहीं सकता, मायाकी मोहिनी उसे मुग्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उसे परमात्माका प्रकाश, मायापतिका बल प्राप्त है। प्रपञ्चको वेधकर, ससीमको चीरकर शुद्ध बुद्धिकी विशुभ्र किरणें अविच्छिन्नरूपसे परमात्मपदमें प्रवाहित होती रहती हैं! शुद्ध बुद्धि हरिके सिवा किसीका वरण ही नहीं करती, किसीकी ओर देखती ही नहीं, कुछ स्वीकार हीं नहीं करती। शुद्ध बुद्धिका यह स्वाभाविक स्वरूप है।

बुद्धिकी यह स्वाभाविकता तभीतक अक्षुण्ण रहती है जबतक मनुष्य सतत सतर्क एवं सावधान होकर, अहर्निश भीतरसे जागरूक होकर, प्रभुके स्मरण, चिन्तन, ध्यानका सहारा लेकर सदा-सदैव अपने उद्देश्यका ध्यान रखता है और उसकी प्राप्तिके लिये सब समय तत्पर रहता है। उद्देश्यका विस्मरण ही सारी विपत्तिका मूल है। जहाँ उद्देश्य एक क्षणके लिये भी विसरा कि प्रपञ्चके लुभावने पर्दे आँखोंपर, बुद्धिपर पड़े और पर्दा पड़ते ही जो साधना ईश्वरोन्मुखी होकर अनन्य–एकान्तरूपसे प्रभुकी खोजमें थी वही जगत्की पूजा-अर्चा करने लगती है और बुद्धि धीरे-धीरे शैतानके हाथकी कठपुतली हो जाती है। बुद्धि अपना प्रकाश खो देती है, मनकी लगाम ढीली पड़ जाती है, इन्द्रियाँ विषयों-के मोहक रूपपर आसक्त हो जाती हैं और सबसे भयावह परिणाम इसका यह होता है कि बुद्धिके दोषसे असत्में सद्बुद्धि, अपवित्रमें पवित्रबुद्धि, असुखमें सुखबुद्धि और अनित्यमें नित्यबुद्धि हो जाती

है। इस कारण मनुष्य स्वभावतः असत्, असुख, अपवित्र और अनित्यकी आराधना करने लगता है। क्योंकि उनके रूपपर आकर्षणका जो सुवर्णमय आवरण पड़ा हुआ है वही उसे उसके सत्य रूपको देखने नहीं देता। इसे ही हमारे ऋषियोंने 'प्रज्ञापराध' कहा है।

असत्, अनित्य, असुख और अपवित्रकी आराधनामें भला सुख कैसे प्राप्त हो ? मनुष्य तो आशामें, प्रतीक्षामें, इस विश्वासमें कि कहीं अदृश्यके गर्भमें सुखकी राशि छिपी पड़ी है, जिसे समय कभी-न-कभी लावेगा ही और हम उस सुखको आज न सही, कल भोगेंगे ही——बस, इसी मृगतृष्णामें वहाँ सुख खोज रहा है जहाँ सुखका लेश भी नहीं, वहाँ शान्ति पाना चाहता है जहाँ अशान्तिकी महावह्नि धाँय-धाँय कर धधक रही है। मृगजलसे किसकी कब प्यास बुझी ? परन्तु इन नादान मृगोंकी आँखें भी कौन खोले ? जिस क्षण हम जगत्के वास्तविक स्वरूपको समझ लेंगे उसी क्षण हमारी आँखें सदाके लिये इससे फिर जायँगी। मृगशिशुको जलती दुपहरीमें लू और लपटोंमें पानीकी खोजमें व्याकुल दौड़ते हुए देखकर किसे दया नहीं आती ? उस नादान मृगछौनेको कोई लाख समझावे, उसे मरनेसे कोई लाख बचानेकी चेष्टा करे; परन्तु उसकी बुद्धिमें जो विभ्रम हो गया है उसके कारण वह तो आगसे ही प्यास बुझानेपर तुला हुआ है और उसे बचानेका हमारा जो भी प्रयत्न होगा उसे अहितकारी समझकर वह और भी जी छोड़कर लू और लपटोंमें ही भागेगा। यह नहीं कि उसे लूकी लपटें सताती

नहीं, जलाती नहीं। वह जितना ही बढ़ता है उतना ही जलता है, परन्तु आगे जो जलकी लहरोंका समुद्र लहरा रहा है उसे पिये बिना कैसे लौटे? असत्में सद्बुद्धिका परिणाम भीषण ज्वाला, दारुण विपत्ति ही है। महाप्रभुने इसे ही 'विषभक्षण' कहा है।

अनादिकालसे ऋषि-मुनि पहाड़की चोटीपर खड़े होकर डंकेकी चोट कहते आये हैं कि जिस जगत्के रूपपर तुम मुग्ध हो उसका एक बार भी तो घूँघट उठाकर मुख देख लो! आवरण-पर प्राण गँवाना कहाँकी बुद्धिमानी है? जरा एक क्षणके लिये विलमकर, इस मोहक आवरणको हटाकर अपने प्रियतम जगत्की झाँकी भी तो लो। जिस क्षण इस जगत्को सच्चे रूपमें देख लोगे उसी क्षण इसका नक्शा ही बदल जायगा और उसी क्षण तुम्हारा जलना-तपना भी सदाके लिये मिट जायगा। भवतापसे तुम मुक्त हो जाओगे! परन्तु हमारी दशा तो ठीक उस मृगछौनेकी-सी है जो लू-लपटोंमें झुलसता हुआ भी सुख-जलकी आशा और तृष्णामें बुरी तरह भागा जा रहा है। ऋषि-मुनियोंके इन उपदेशोंको हम सुनते-पढ़ते हैं, परन्तु भीतर ऐसा भासता है—अरे! ये हमें संसारसे अलग करने और हमारा सुख छीननेपर तुले हुए हैं। इन्हें संसार-सुखका क्या पता। इन्होंने तो जंगलों-पहाड़ोंकी हवा खायी। ये तो हमें संसारसे अलग रहकर एकान्तसेवनका उपदेश देंगे ही, परन्तु हम भला ऐसे मूर्ख थोड़े हैं कि सामनेके लहराते हुए संसार-सुखकी अनन्त अपार राशिको ठुकरा दें।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्!!

संसारके सुख और भोगकी प्राप्तिके लिये हम आज विनाश—सर्वनाशके पथपर सरपट भागे जा रहे हैं। संग्रह-परिग्रहका भूत सिरपर सवार है और जगत्-पिशाचसे ग्रस्त होकर हमने बुद्धिभ्रंशके कारण पदार्थोंमें सुख मान रक्खा है। अमुक वस्तुको जुटाओ, उसमें सुखकी प्राप्ति होगी; इस वस्तुका संग्रह करो, उससे सुखका अमृत झरेगा। यह जुटाओ, वह जुटाओ; इसका संग्रह करो, उसका परिग्रह करो—बस अब क्या, अब तो एक क्षणमें अभी सुख बरसने ही वाला है! एक पग आगे बढ़ाया कि सुखका लहराता हुआ समुद्र चरणोंमें लोटेगा। कैसी शीतल लहरें आ रही हैं! यह सुखद शीतल स्पर्श! इस ओरसे सुखकी वहिया उमड़ी आ रही होगी—हम जी भरकर सुख लूटेंगे। अपने तो लूटेंगे ही, अपने बाल-बच्चोंके लिये भी सुखका संग्रह कर जायँगे। उनके लिये सुखकी इतनी सामग्रियाँ इकट्ठी कर जायँगे कि वे सुखमें डूबे ही रहेंगे, कभी सुखका अभाव होगा ही नहीं। बस क्या है—यह जमा करो उसे जुटाओ; यह बनवाओ, वह तैयार करो; इसे मारो, उसे मिटाओ—हम अपने सुखका एक भी बाधक नहीं रहने देंगे और उसकी जितनी भी साधक सामग्रियाँ होंगी उन सबका संग्रह कर लेंगे—फिर भय काहेका, चिन्ता किस बातकी?

विनाशके पथपर द्रुतगतिसे दौड़नेवालोंमें एक बड़ी विकट प्रतियोगिता, एक विचित्र होड़-सी लगी हुई है! हम अपने सर्वनाशकी सारी सामग्री जुटाकर ही सन्तुष्ट नहीं होते। हम देखते हैं कि हमसे आगे दौड़नेवालेके पास अधिक सामग्री है,

अधिक परिग्रह है—जिसे हम वैभव-ऐश्वर्य कहते हैं, सुखके बहुत अधिक साधन और सामान विद्यमान हैं—फिर क्यों न हम उन साधनोंको भी इकट्ठा कर लें, क्यों न जीवनका 'सदुपयोग' और 'सद्व्यय' कर लें ! अपने लिये सभी सामान इकट्ठा कर लिया तो क्या हुआ—बाल-बच्चोंके सुखका कोष कभी खाली न पड़ने पावे, यह देखना भी तो हमारा ही कर्तव्य है। कोई भी अपनी स्थितिसे—चाहे वह कितनी भी ऐश्वर्यमयी क्यों न हो—सन्तुष्ट नहीं है। जिसके पास महल-अटारी है वह ऐसे ही दस-बीस और चाहता है—वह भी यदि हो गया तो इच्छा और तृष्णा फिर असंख्यगुना बढ़ी और फिर..........!! तृष्णाका भी कहीं ओर-छोर है ? मरीचिकाकी भी कहीं 'इति' है ? जिसके पास मोटर है वह हवाई जहाजके लिये तड़प रहा है; जिसके पास हवाई जहाज है वह साम्राज्य स्थापित करनेकी ज्वालामें झुलस रहा है; जिसे साम्राज्य है वह संसारपर अपना एकछत्र शासन चाहता है..........!!! इसी वृत्तिका नाम जड-उपासना है।

जड-उपासना, शिवको छोड़कर शवकी आराधना पाश्चात्य संस्कृतिके विष-वृक्षका फल है। आज तो समस्त संसार इस ज्वालामें झुलस रहा है और लोग इसे सुखका सुन्दर अमृत निर्झर मानकर इसमें आकण्ठ डूबे हुए हैं। जड सभ्यताने आत्माके स्थानपर शरीरकी, परमात्माके स्थानपर जगत्की, आत्मकल्याणके स्थानपर सर्वनाशकी और विश्व-कल्याणके स्थानपर संहारकी प्रतिष्ठा की है। सब अपनी ही ऐश्वर्यवृद्धिमें व्यस्त हैं—मानो

किसीको दूसरेकी ओर देखने, उसके सुख-दुःख सुननेका कोई अवकाश ही नहीं है। दूसरेको गिराकर, जगत्‌के सभी प्राणियोंको मिटाकर उसकी छातीपर हम अपने ऐश्वर्यका महल खड़ा करना चाहते हैं। ऊँचे-ऊँचे भव्य महलोंके पड़ोसमें टूटी-फूटी झोपड़ियाँ; विलास, वैभव और नाच-रंगके पास ही भीषण दरिद्रताका करुण आर्तचीत्कार; मोटरोंकी धूलमें गड़े हुए कङ्काल नर-नारियोंके करुण-कङ्काल; तोप, मशीनगन और हवाई जहाजोंकी अग्नि-वर्षामें पति और पुत्रको खोकर, तड़पती हुई विधवा और अनाथिनीका हृदय-वेधक हाहाकार; प्रभुओंका दीन-हीन किसानोंपर रौरव अत्याचार; धनमदमें झूमते हुए, वेश्या और वारुणीमें डूबे हुए बाबुओं और मालिकोंके प्रमत्त अट्टहासके साथ दाने-दानेके लिये तरसते हुए, लज्जा ढकने भरके वस्त्रके लिये बिलखते हुए लाखों नर-नारियोंका गगनभेदी करुणक्रन्दन—इस पाश्चात्त्य संस्कृतिके विष-फल हैं। समस्त प्रकारके संयम-नियम हटाकर, सब तरहके बन्धन और मर्यादाको तोड़कर विलासिता, व्यसन, पापाचार, सुखसम्भोगमें आत्मविस्मृत रहना, यही आधुनिक जड सभ्यता (materialism) का पुण्य-फल है! और आश्चर्य तो यह है कि इसे ही हम मान रहे हैं उन्नति, विकास, सुधार और सुख-वृद्धि! पुरुषोंके हिस्से नृशंसता और स्त्रियोंके हिस्से उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचारिता पड़ी है। सिनेमा-थियेटरोंमें रूपका जाल बिछाकर, नग्न सौन्दर्यकी वारुणी पिलाकर क्वाँरी लड़कियाँ और मिसें अपने कला-ज्ञानका

बहुत सुन्दर परिचय दे रही हैं। पुरुष अपनी माँ-बहिनोंपर भी पापपूर्ण दृष्टि डालते हुए सङ्कोच नहीं करता ! पुरुष नारीको अपने विलास-भोगकी सामग्री समझे हुए है और नारी अपने रूप-सौन्दर्यके बलपर पुरुषोंको पतनके गह्वरमें गिरानेकी वस्तु ! एक ओर वैभव, ऐश्वर्यका प्रमत्त अट्टहास है; दूसरी ओर दरिद्रता, नग्नता, अपमान और प्रताड़नाका नग्न नृत्य !!

पाप, अत्याचार, उत्पीडन और उच्छृङ्खलताका संसारकी छातीपर जब ताण्डवनृत्य होने लगता है और इसके कारण जब विषमता और विरोधकी विभीषिका विश्वको जलाने लगती है—संसारमें हाहाकारका दारुण चीत्कार होने लगता है, तब भगवान् शङ्करका क्रोधस्फीत तीसरा नयन खुलता है, जिससे अग्निकी धारा-सी छूट पड़ती है और जिसमें पड़कर सारी विषमता, सारा विरोध, सारे पाप-ताप-अत्याचार भस्म हो जाते हैं। मानवताके इस विध्वंसमें भी प्रभुका कल्याण-भाव ही है और वे मन्द-मन्द मुसका रहे हैं ! इस विध्वंस-लीलाके अनन्तर नवीन सृष्टि, नवीन रचना होती है, जिसमें पुनः शुद्ध प्रज्ञा और निर्मल विवेकका अवतार होता है।

चरकसंहिताके 'विमानस्थानम्' प्रकरणके तृतीय अध्यायमें जनपदध्वंसनका वर्णन आया है। एक समय भगवान् पुनर्वसु आत्रेयने अपने शिष्य अग्निवेशसे कहा कि नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवन और दिशाओंकी प्रकृतिमें विकृति आयी-सी मालूम होती है। मालूम होता है, थोड़े दिनों बाद ही पृथ्वी और औषधोंका गुण

जाता रहेगा और इस कारण लोग नित्यरोगी हो जायँगे। इसके फलस्वरूप जनपदका उद्ध्वंसन उपस्थित होगा।

मनुष्यकी प्रकृतिमें विभिन्नता होनेपर भी उनके अन्दर कुछ समानता है और उस समानताके कारण ही समान कालमें समस्त व्याधियाँ उपस्थित होकर जनपदका नाश करती हैं। उल्कापात, निर्घात और भूकम्प इसके लक्षण हैं। गुरुकी भविष्यवाणी सुनकर शिष्यको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने प्रश्न किया—ऐसी विकृति और तज्जन्य जनपद-ध्वंस क्यों उपस्थित होता है ?

इसका उत्तर भगवान् आत्रेय देते हैं—वायु आदिमें जो वैगुण्य उपस्थित होता है उसका कारण अधर्म है। पूर्वकृत असत् कर्म ही उसके कारण हैं। उस अधर्म और असत् कर्मका घर है प्रज्ञापराध—बुद्धिका दोष। जब देश, नगर और जनपदके अध्यक्ष धर्मका परित्यागकर अधर्मपथसे प्रजापालन करते हैं तब उनके आश्रित, उपाश्रित, पुरवासी, जनपदवासी और व्यवहारोपजीवी (वकील, मुख्तार) उस अधर्मकी वृद्धि करते हैं। उस अधर्मके उत्पन्न होनेसे धर्म अन्तर्हित हो जाता है। उसके बाद उन सब धर्मविहीन लोगोंको देवता छोड़ देते हैं। इस तरह मनुष्यके धर्मविहीन, अधर्म-परायण और देवताओंद्वारा परित्यक्त होनेके कारण सब ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। अतएव देवता यथासमय वर्षा नहीं करते, अथवा विकृतरूपमें करते हैं। वायु सम्यग्रूपमें नहीं प्रवाहित होता, भूमि विकृत हो जाती है, पानी सूख जाता है, औषध अपना स्वभाव छोड़कर विकृत हो जाते हैं। अन्तमें समाज उस वायु, जल, भूमि और औषधके स्पर्श, पान और भोजनके कारण ध्वंसको प्राप्त होता है। युद्धके

मनुष्यका ध्वंस होता है, किन्तु उस युद्धका मूल भी अधर्म ही है। मनुष्योंमें लोभ, क्रोध, रोष और अभिमान अत्यन्त बढ़ जानेसे वे दुर्बलोंका अपमान करके आत्मीय स्वजन और दूसरोंका नाश करनेके लिये एक दूसरेपर शस्त्रद्वारा आक्रमण करते हैं। अधर्म अभिशापका भी कारण है। धर्मविहीन मनुष्य धर्मभ्रष्ट होकर गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि और पूज्योंका अपमान करके अहित साधन करते हैं। फिर वे सब लोग गुरु आदिके अभिशापसे भस्म हो जाते हैं।

ऐसे सङ्कटकालमें बचनेका क्या उपाय है? किस तरह इस ध्वंससे त्राण मिले? भगवान् आत्रेय इस महामारीसे बचनेका उपाय इस प्रकार बतलाते हैं—

> सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
> सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
> हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
> सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
> संश्रयाद्धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
> धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥
> इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्।
> येषां न नियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे॥

ऐसे सुदारुण जनपदध्वंसकालमें इन दवाओंसे ही रक्षा हो सकती है—सत्याचरण, सब भूतोंके प्रति दया, दान, बलि, देवार्चन, सद्वृत्तका अनुष्ठान, आत्मगुप्ति (मन्त्रोंद्वारा आत्मरक्षा), पुण्यवान् जनपदसमूहका उपसेवन (अर्थात् देशपरिवर्तन),

ब्रह्मचर्यपालन, ब्रह्मचारियोंके आश्रयमें रहना, धर्मशास्त्र तथा जितात्मा महर्षियोंका आज्ञापालन और वृद्धजनपूजित धार्मिक और सात्त्विक लोगोंका सहवास !

आज संसारमें युद्धके बादल मँड़रा रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके, एक देश दूसरे देशके सर्वनाशकी तदवीरें सोच रहा है और उसके लिये विषैली गैसों, नये-नये प्रकारके हवाई जहाजों, मशोनगनों तथा तोपोंका आविष्कार बड़ी तत्परतासे हो रहा है। राष्ट्रसङ्घ (League of Nations) तथा शान्ति-स्थापनाकी परिषदें (Peace Conferences) एक आडम्बर और विडम्बनाके अन्तरालमें अपनी निजी शक्तिको सुसङ्गठित तथा सुदृढ़ करनेके प्रवञ्चनापूर्ण षड्यन्त्र हैं। राष्ट्रपरिषदें होती हैं; शान्ति, सद्भाव, समझौतेके प्रस्ताव बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें पास किये जाते हैं और राष्ट्रोंके प्रतिनिधि अपने-अपने देशमें जाकर सेना, जहाज, अस्त्र, शस्त्र, विषैली गैसकी अभिवृद्धिके लिये राष्ट्रकी सारी शक्ति लगानेकी सलाह देते हैं। अधर्म, पापाचार, विध्वंस, स्वेच्छाचारिता, अदूरदर्शिताका भीषण उत्पात सर्वत्र हो रहा है। विहार और क्वेटामें प्रलयका जो हृदय-द्रावक दृश्य अभी-अभी देखनेको मिला है—क्या इनसे भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं ? क्या इस जनपदध्वंस-प्रक्रियामें हम देवताओंके विरुद्ध असुरोंका ही साथ देते रहेंगे ? अथवा दैवी सम्पत्तिकी अभिवृद्धि कर पुनः रामराज्यकी स्थापनामें सहायक होंगे ?

एकान्त शान्ति

[स्वगत]

कुहरेसे घिरे हुए मनुष्यको यह पता नहीं लगता कि उससे एक गजकी दूरीपर क्या है । वह जितना ही आगे बढ़ता जाता है उतना ही आगेकी ओर वह देखता जाता है और रास्ता सूझता जाता है, साफ़ होता जाता है । कुहरेसे घबड़ाकर यदि वह चुपचाप बैठ जाय और हाथ-पर-हाथ रखकर निष्क्रिय हो जाय तो उसे निराशा, अवसाद, अशान्ति और अकुलाहटके सिवा क्या हाथ आयेगा ? कुहरा वास्तवमें कुछ वस्तु है नहीं । यह तो बस आवरणमात्र है, लुका-छिपीका भूलभुलैया है; आँखमिचौनीकी मधुर क्रीड़ा है । हम जितना ही आगे बढ़ें उतना ही हमसे दूर भागता

जाता है। यदि हम कुहरेको पकड़ना चाहें तो कैसे पकड़ सकते हैं? कुहरेको चीरकर आगे बढ़ना और सत्यका साक्षात्कार करना ही हमारी वीरता है।

मनुष्य बुरी तरह घने कुहरेके निविड़ अन्धकारमें ढका हुआ है। वह जिधर दृष्टि डालता है अन्धकार-ही-अन्धकार नजर आता है। संसारके इस घने कुहरेमें अपना हाथ भी नहीं सूझता। अन्धकारके इस घने आवरणको चीरना ही सच्ची वीरता है, यही सच्ची बहादुरी है, यही वास्तविक पुरुषार्थ है। मनुष्यके जीवनमें ऐसी घड़ी कभी-कभी आ जाती है जब वह अपने भविष्यके सम्बन्धमें सशङ्कित होकर घबड़ा उठता है। उसका हृदय चिन्तासे क्षुब्ध हो जाता है। भविष्यके गर्भमें क्या है इसे कोई नहीं जानता। एक क्षण बाद क्या होगा—इसका अनुमान भी हम नहीं लगा सकते। यह एक बड़ी ही विचित्र, बड़ी ही रहस्यमय गोपनीयता है। मनुष्य इसे एक 'पहेली' के रूपमें देखनेका अभ्यासी है। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो समझ पड़ेगा कि प्रभुकी यह असीम अनुकम्पा ही है कि हम अपने भविष्यसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। यदि हम भावी सुख-दुःख, हर्ष-विषादकी घटनाओंको पहले ही जान जायँ तो हमें अपना 'वर्त्तमान' ही एक भारी असह्य बोझ हो उठे। भावी सुखकी प्रतीक्षा तथा दुःखकी आशङ्कासे हमारा 'वर्त्तमान' अस्तित्वहीन, अशान्तिपूर्ण अथ च भयानक हो उठेगा। वह भविष्य कितना भी उज्ज्वल क्यों न हो यदि हम अभी उसे जान लें तो हम अपने वर्त्तमान जीवनको सुख, शान्ति,

आनन्द और प्रेमसे नहीं बिता सकते! प्रभुने मनुष्यको भविष्यके गर्भमें क्या है—इससे पूर्णतः अनजान, अनभिज्ञ रक्खा; इसमें उसकी इच्छा स्पष्ट है कि कल क्या होगा, इसकी हम व्यर्थ चिन्ता करके व्यग्र न हों।

मनुष्य भविष्यकी चिन्ता करके ही दुखी होता है। भविष्यकी चिन्ताका होना अस्वाभाविक नहीं है परन्तु दृढ़ अभ्यासके द्वारा उसे रोका जा सकता है और उसकी ओरसे निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व, बेफ़िक्र होकर वर्त्तमानको सुखमय, आनन्दमय, उल्लासमय बनानेका प्रयत्न किया जा सकता है। भविष्यकी ओरसे निश्चिन्त हो जाना ही वर्त्तमानको आनन्दमय बनाना है। हमारी इस निश्चिन्तता और अलमस्तीकी तहमें प्रभुपर अखण्ड निर्भरता है, उसकी गोदमें अपनेको डालकर, उसकी छातीमें अपनेको छिपाकर, सब ओरसे आँखें मूँदकर, माँकी छातीका दूध पीते हुए लोक-परलोक सब कुछ भूल जाना—माँमें एकाकार हो जाना—संसारकी ओर पीठ फेर देना है। यहाँ संसारको भूलनेका प्रयत्न नहीं करना पड़ता। माँके स्तनसे जहाँ मुँह सटाया कि दुनिया मिटी; फिर भविष्यकी निगोड़ी चिन्ता और लोक-परलोकका अस्तित्व ही कहाँ रहा? हम तो सदा-सदैव उसकी शीतल गोदमें सुरक्षित हैं। वह मुझे अपनी छातीमें छुपाये हुए है, आलिङ्गनमें बाँधे हुए है, चुम्बनोंकी वर्षासे मेरे रोम-रोमको नहला रही है—मेरी ऐसी दयामयी जननी मुझे कभी छोड़ सकेगी, बिसार सकेगी—इसकी कल्पना ही क्यों?

एकान्त शान्ति

भविष्यके गर्भमें क्या है—इसकी चिन्ता करनेवाले हम कौन ? 'भविष्य' को जिसने रचा है वही उसकी सँभाल भी करेगा। हम नाहक क्यों उसके लिये परेशान हों ? क्यों नाहक उसके लिये अभीसे व्यग्र और व्याकुल होकर अपने वर्त्तमानको भी विक्षुब्ध और अशान्तिमय कर दें ?

किश्ती खुदा पै छोड़ दी लंगरको तोड़ दी,
अहसान नाखुदाका उठाये मेरी बला।

मनुष्यकी बुद्धि बहुत थोड़ी दूरतक देख सकती है। हमारे जीवनका प्लान परमात्माके हाथ है, उसीको पूरी डिज़ाइनका पता है। हमारे सम्पूर्ण जीवनके पूर्ण चक्करको वही, केवल वही देख सकता है। पता नहीं, कितने युगोंसे किस-किस रूपमें हमारे इस जीवनकी धारा बहती चली आ रही है। पता नहीं, कैसे-कैसे व्यव-धान, बाधा, विषमता, हर्ष, सुख, दुःख, आनन्द, पुलक आदिकी अनुभूति होती आयी है। कौन कह सकता है हमारी जीवन-सरिताके तटपर कहाँ और कब काशी मिली, कब प्रयाग मिला, कब शून्य निर्जन घोर वनस्थल मिला, कब सूना श्मशान मिला, कब पूजाके पुष्प मिले और कब चिताका भस्म मिला। पता नहीं, किस अनादिके गर्भसे हमारी यह जीवनकी पयस्विनी प्रस्रवित हुई और इसकी अमर सनातन धारा किस-किस देशको सींचती हुई, ढाहती हुई, अपनेमें मिलाती हुई बही चली आयी है, बहती चली जा रही है, बहती चली जायगी और अनन्त समुद्रकी छातीमें अपनेको लयकर, जिसमेंसे निकली थी उसीमें लय हो जायगी, सुखसे सो

जायगी। हम अपने इस जीवनके ही समग्र रूपको नहीं देख सकते, पिछले और अगले जन्मोंकी तो बात ही नहीं। हमारा अभी जो यह वर्त्तमान जीवन है, जो हमारे वर्त्तमान जन्म और इसकी मृत्युके बीच लहरा रहा है—वास्तवमें एक अखण्ड, अनन्त, दिव्य सनातन जीवन-धाराका अंशमात्र है। इस अंशमात्रके अंशको जब हम पूरा-पूरा नहीं देख पाते तो फिर भावीके विषयमें निराधार कल्पना करके अपनेको दुखी बनाना क्या बच्चोंकी-सी मूर्खता नहीं है? हमारे इस जन्मके पहले भी तो हमारा जीवन-प्रवाह था और मृत्युके अनन्तर भी तो वह बना रहेगा। क्या उसे हम समग्ररूपमें, सम्पूर्णतः देख सकते हैं?

हमारा देखना अधूरा है, अपूर्ण है, अस्त-व्यस्त है, अतः खण्डित तथा विकृत है। इसके आधारपर कुछ भी अनुमान लगाना बलात् दुःखको मोल लेना है। महाकवि ब्राउनिंग (Browning) ने अपनी एक कविता (The Best is yet to be) में जीवनका समग्र रूप दिखलाते हुए यह बतलाया है कि जीवनका जो अंश तुम देख रहे हो, और इसके आधारपर जो कल्पना तुमने रच ली है वह निराधार है। भविष्यमें तुम्हारे लिये पूर्णतम, सुन्दरतम, परमदिव्य बननेके समग्र साधन परमात्माने निश्चित कर रक्खे हैं। वे सभी क्रमशः एक-एक कर तुम्हें जीवनकी विराट् दिव्य धारामें एक करनेके लिये पहलेसे ही निर्धारित हैं। तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल और आशामय है क्योंकि तुम अनादिसे निकलकर अनन्तमें मिलने जा रहे हो। बीचमें तुम विरम नहीं सकते, रुक नहीं

सकते। कोई भी बाधा तुम्हारे पथमें बाधक बनकर नहीं आ सकती। तुम्हारे चरणोंके नीचे आते ही सब शूल फूल बन उठेंगे और तुम्हारी यह जीवनयात्रा मङ्गलमय, आनन्दमय, प्रेममय, अमृतमय होगी। दीख पड़नेवाली कठिनाइयाँ तुम्हारे जीवनके सौन्दर्यको अधिक चमका देंगी—उस रगड़में तुम्हारा वास्तविक रूप निखर आवेगा! तुम अमरपुत्र हो; तुम्हारी खोज, तुम्हारी प्यास अनन्त समुद्रके सिवा कहीं पूरी हो नहीं सकती और यह विश्वास मानो, तुम्हारी यात्रा अनन्त प्रेमार्णवकी ओर ही हो रही है; प्रतिपल अधिकाधिक तुम अपने उद्देश्यके निकट पहुँचते जा रहे हो। उस अनन्त प्रेमार्णवमें मिलनेकी जो तीव्र उत्कण्ठा है वही जीवनमें गति भरती है और उसके कारण ही तुम्हारा सारा पथ मङ्गलमय है, हरिमय है! प्रेम, आनन्द और सौन्दर्यकी अजस्र वर्षा तुमपर हो रही है। तुम्हारे पथमें प्रभुकी अनुकम्पाके फूल बिखरे हैं।

पता नहीं, कबसे, कितनी मृत्युओंके द्वारको लाँघता हुआ हमारा यह जीवन चलता आया है और अभी कितनी बार मृत्युका द्वार लाँघना पड़ेगा। जन्म और मृत्युके दुहरे द्वारको लाँघता हुआ यह प्रवाह अबाध गतिसे चलता चला जा रहा है। पूरी डिजाइन परमात्माके हाथ है। भविष्यमें अनिष्टकी आशङ्का करके सिर पीटना नास्तिकता नहीं तो और क्या है? जो आदमी ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करेगा वह भविष्यकी चिन्ता या भय क्यों करेगा? वह तो अपनेको सदैव हरिकी गोदमें सुरक्षित मानेगा ही! उसके

लिये फिर सारे कष्ट और कठिनाइयाँ प्रभुके प्रगाढ़ आलिङ्गनका रस लावेंगी। कष्टोंके भारसे वह झुकेगा नहीं क्योंकि उसे तो परमात्माकी सारी शक्ति प्राप्त है। दीख पड़नेवाली विपरीतता और प्रतिकूलतामें जब 'जीवनधन' का छिपा हुआ हाथ दीख जाय तो फिर हँसे बिना रहा कैसे जायगा? सबमें छिपे हुए 'देवता' का सभी रूप हृदयको लुभानेवाला है। चाहे वह जिस रूपमें आवे उसके चरण सदैव हमारे हृदयपर ही रहेंगे क्योंकि 'उस' की सर्वरूपतामें हमारा अपनापना भरा हुआ है। उसके सभी रूप और सभी क्रियाओंको हमारी ललचायी हुई आँखें सतृष्ण दृष्टिसे देख रही हैं और अघाना नहीं जानतीं। जब हमारे प्रियतम प्राणाधार, हृदयवल्लभके हाथमें ही हमारे जीवनकी बागडोर है, जब हमारा 'अपना' ही हमारे भविष्यका विधायक है तो फिर आशङ्का किस बातकी, भय काहेका?

परन्तु हाय रे मनुष्यकी दुर्बलता! मनुष्य अपने योगक्षेमके पीछे परेशान है और इसी गोरखधन्धेमें बुरी तरह उलझा हुआ है। इस उलझनको वह जितना ही सुलझाना चाहता है उतना ही उलझन और उलझती जाती है और इस चक्रव्यूहको वेधनेवाला अभिमन्यु कभी पैदा ही नहीं हुआ। जिसने इसे रचा है वही इसका रहस्य जानता है और उसीके साथ हम भीतर प्रवेश भी कर सकते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

प्रभुके प्रकाशके बिना इस अन्धकारमें एक डग आगे बढ़ना खतरेसे खाली नहीं है। हृदयमें उसकी मूर्त्ति, चित्तमें उसकी स्मृति, प्राणोंमें उसकी प्रीति, फिर आँखें जिधर जायँगी वहीं हरि, मन जहाँ जायगा वहीं मनमोहन हँसते खड़े निहारते रहेंगे। उस समय हाथसे जो कुछ कर्म होगा वह भगवत्प्रीतिको उत्पन्न करनेवाला होगा और समग्र जीवन श्रीकृष्णार्पणकी एक मधुर सुन्दर श्रृङ्खला हो जायगा। उस समय मनमें कभी किसी अनिष्टकी आशङ्का रह ही नहीं जायगी; जिसने इष्टदेवके दर्शन कर लिये, स्पर्श कर लिये, वन्दन कर लिये, उसके लिये फिर 'अनिष्ट' कैसा, प्रतिकूलता कैसी ?

मनुष्य तो सत्यको त्यागकर मृगजलसे तृप्त होना चाहता है। वह बुरी तरह इसके पीछे भाग रहा है—शान्तिके लिये, सुखके लिये, आनन्द और परितृप्तिके लिये, और मिलता है उसको बदलेमें दुःख, अशान्ति, ज्वाला और जलन। और ईश्वरमें विश्वास॰! जिस प्रभुने गर्भमें तुम्हारी रक्षा की, जो प्रतिपल तुम्हें सँभाल रहा है, जो प्रत्येक दशामें तुम्हारी रक्षा कर रहा है क्या वह भविष्यमें तुम्हें निराधार छोड़ देगा ? एक पल भी उसके सहारेके बिना तुम टिक सकोगे ? हाय! तुम कितने अविश्वासी हो ? अपनेको 'आस्तिक' कहते हो और जरा-सा झोंका (और वह भी काल्पनिक) आनेपर तिलमिला उठते हो! झूठी आशङ्कामें सारा विश्वास हिल जाता है। इस प्रकार परास्त मत होओ, मैं हर समय, हर दशामें तुम्हारे साथ हूँ; सदा-सदैव तुम्हारे भीतर-बाहर मैं सँभालता आ

रहा हूँ और बराबर सँभालता रहूँगा। निश्चिन्त हो जाओ। भूल गये? आज ही तो तुम्हें सुनाया है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५। २९)

मैं सबका महेश्वर होता हुआ भी अपने भक्तोंका भक्त हूँ। जगत्‌के सभी आश्रय छोड़कर केवल एक मुझमें ही विश्वास करो। मैं तुम्हारे योगक्षेमका भार अपने ऊपर लिये हुए हूँ। मुझे छोड़कर कहीं मत जाओ। किसीका आश्रय न लो, किसीको अपना 'प्रभु' न मान लो। तुम्हारा स्वामी तो 'मैं' हूँ ही। तुम्हारी लाज मेरी लाज है। भला, तुम्हारी लाज मैं कैसे जाने दूँगा? विश्वास करो, मैं तुम्हारे लिये कुछ भी उठा न रक्खूँगा। तुम्हारी मनचाही होगी; जो चाहोगे, जैसा चाहोगे, तुम्हारे हितकी दृष्टि रखते हुए वही करूँगा! तुम अपना हिताहित क्या जानो? तुम तो अशुभमें ही शुभ देखते हो, अहितमें ही हित समझते हो। तुम्हारे शुभाशुभ, हिताहितका एकमात्र ज्ञान मुझे है और तुम्हारे लिये सदा वही करूँगा जो शुभ और हित हो। लोककी ओरसे आँखें मूँद लो, मेरी ओर देखो; मैं तुम्हें अपनी गोदमें छिपा लेनेके लिये व्याकुल हूँ। मैं सामने खड़ा हूँ, मेरी ओर देखते क्यों नहीं! मैं तुम्हें अपनी छातीमें छिपा लूँगा, आलिङ्गनमें डुबा लूँगा, चुम्बनमें नहला दूँगा। मेरी गोदमें आ जाओ, जगत्‌की आँच तुमतक आ नहीं सकती! निर्भय हो जाओ। मेरा अभयदान स्वीकार करो। मेरा हाथ सदैव तुम्हारे मस्तकपर है। मैं सदैव तुम्हें प्राणोंमें

छुपाये हुए हूँ। घबड़ाओ मत। सब कुछ मंगल ही होगा। अन्यथा हो ही नहीं सकता। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं सदैव तुम्हारे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे भीतर-बाहर हूँ—डरो मत, आगे बढ़ो—

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।

(गीता २। ३७)

यह तो युद्धक्षेत्र है प्यारे! यह तो कर्मभूमि है न। इसमें घबड़ाये कि गये। जब मैं तुम्हारा हाथ पकड़े हुए हूँ तो घबड़ाना क्यों, डरना किसलिये? निर्धूम दृष्टिसे, आँखें खोलकर मेरी ओर देखते रहो और प्रसन्नता, आनन्द, निर्द्वन्द्वता, मस्ती और अदाके साथ युद्ध करते जाओ। युद्धमें मेरा बल तो तुम्हें प्राप्त है ही। तुम्हारे जीवन-रथकी बागडोर मेरे हाथ है। युद्धका तुम्हें तो बस एक अभिनयमात्र करना है। मैं तुम्हारे इन शत्रुओंको पहलेहीसे परास्त कर चुका हूँ, वध कर चुका हूँ। तुम्हें तो बस निमित्तमात्र होना है। जीत तो तुम्हारी पहलेहीसे निश्चित है। असुरोंके साथ इस संग्राममें मैं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूपसे तुम्हारी सहायता कर रहा हूँ। तुम्हें कोई हरा नहीं सकता, तुम्हें कोई जीत नहीं सकता। तुम्हें मेरी शक्ति प्राप्त है। तुममें मैं बैठा हुआ हूँ और तुम्हारे द्वारा मैं ही लड़ रहा हूँ। विजयके लिये ही तुम यहाँ हो। दुनिया देखे तो सही कि तुम्हारी सच्ची शक्ति क्या है! स्त्रीकी भाँति, कायरकी भाँति, आश्रयहीन नपुंसककी भाँति मुँह छिपाकर युद्धसे भागना भी चाहोगे तो भागकर कहाँ जाओगे? मैं

तुम्हें पीछे खिसकने दूँगा ही नहीं। मेरा नाम न हँसाओ। मेरे भक्त कायर-नपुंसक होते हैं—ऐसी बात मत हो। मैंने अपनेको पूरी तरह तुममें ढाल दिया है।

तुम्हारा कोमल-मधुर रूप भी है—यह मुझे मालूम है। तुम्हारे नारी-हृदय-सुलभ गुणोंको जानता हूँ। कोमलता, सरलता, मधुरता, भावुकता आदिका पता मुझे है। मुझसे तुम्हारा क्या छिपा है? परन्तु प्यारे! यह न भूलो कि तुम 'मेरे' हो और मेरे इस विराट् अभिनयके एक पात्र हो। जब जैसा पार्ट सौंपूँ मस्तीके साथ अदा करो। किसी पार्ट-विशेषमें मोह और आसक्ति क्यों? ओ मेरे संकेतपर नाचनेवाले! मेरी आज्ञा मानकर तुम्हें अपने प्रिय-से-प्रियका 'मोह' तोड़ देना होगा। मैं अपने अभिनयके सौन्दर्यके लिये तुम्हें जहाँ जिस प्रकार चाहूँगा, वहीं, उसी प्रकार बिना किसी संकोच और हिचकिचाहटके प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें आनन्द मानना चाहिये क्योंकि आनन्द तो संस्था, व्यक्ति, वातावरणमें नहीं है, जो कुछ रस तुम्हें वहाँ मिलता है वह मेरी छायाके कारण; और इस संसारमें तथा इससे परे और पहले अनादिकालसे 'मैं'—केवल मैं ही तुम्हारा एकमात्र साथी था, मैं ही हूँ और मैं ही रहूँगा।

जीवनरास

नाचूँ, नाचूँ मैं महाराज।
मधुवा लव, बदमस्तीवाला, नाचूँ पी-पी आज।
हरि मोरे पिय, मैं हरिकी पियारी, नाचूँ हो निरलाज॥
नाचूँ, नाचूँ मैं महाराज॥

—स्वामी रामतीर्थ

हरिके ताल और संकेतपर हम सभी नाच रहे हैं। यह नृत्य अविराम प्रतिपल प्रतिछन चल रहा है। हम चाहें भी तो इस नृत्यसे अलग नहीं हो सकते। समस्त सृष्टि, अखिल ब्रह्माण्ड हरिके नूपुरोंकी रुमझुमकी झंकारसे झंकृत है। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जब माधवकी मुरली न बजती हो, एक पल भी ऐसा नहीं बीतता जिसमें उनके नूपुर एक विशिष्ट स्वरलहरीके साथ न बज

रहे हों। समस्त ब्रह्माण्ड, अनन्त लोक नटनागरके चरणोंमें छोटे-छोटे परमाणुओंके समान घुँघुरूके चारों ओर नाच रहे हैं और जो कुछ भी गति अथवा स्पन्दन है वह उस अखण्ड नृत्य-विलास, लीलामाधुर्यसे अनुप्राणित तथा अभिप्रेरित है। हृदयके अन्तःपुरमें अथवा विश्व-वृन्दावनमें, समान भावसे भीतर-बाहर एक अमित उल्लासके साथ यह रास हो रहा है। इस रासकी फाँसमें हम सभी गुँथे हुए हैं। रासकी अमृतधारामें हम सभी बेसुध हैं, बेसँभार हैं।

बीचमें त्रिभुवनमनमोहन श्यामसुन्दर नटनागर आदिशक्ति जगज्जननी, महामाया राधारानीके साथ महाभावका रस बरसाते हुए, एक दिव्य लास्यमें, एक अप्राकृत भावभंगी तथा स्वर-मूर्च्छना-की सृष्टि कर रहे हैं। यही प्रकृति-पुरुषका लीला-विलास है, यही माया और मायापतिका अलौकिक महामिलन है। जगत्का सारा आनन्द, सारा शृङ्गार, सारा माधुर्य, सारी शोभा और सारा लावण्य उस मूल संयोगकी एक लहरका लीला-विस्तार है। सब कुछ वहींसे आ रहा है। वही मूलस्रोत है, वही सत्य सनातन मधु-उत्स है। वहींसे नित्य-निरन्तर अमृत झरता रहता है। वह 'संयोग' ही सृष्टिकी मूल प्रेरणा है; वहीं सत्-चित्-आनन्दका उन्मेष होता है।

और हम जीव? हम भी तो उस मूल चिरन्तन रासकी झंकारमें प्राणोंका स्पन्दन, हृदयकी धड़कन और साँसोंकी ताल मिलाकर उसी दिव्य संकेतपर अहर्निश नाच रहे हैं। एक क्षणका भी तो विराम नहीं है। हो कैसे? आनन्दकी जो बहिया उस

मूल रस निर्झरिणीसे उमड़ी आ रही है वह विराम लेने दे तब न। अविरल प्रवाह उसका हमारी दिशामें है, वह आती है, वह आती है और आ-आकर अपनी मधु-मदिर लीला-लहरमें हमारे रोम-रोमको, कण-कणको आप्लावित कर जाती है। वसुन्धराका एक-एक अणु उस दिव्य रासके रसमें सराबोर है। सभी गुप-चुप हैं, बोलें तो क्या, और किससे? बस, 'समुझि मनहिं मन रहिये।' यह आनन्द कैसे और किससे कहा जाय? हम सभी, हममेंसे प्रत्येक तो अपने भीतर हरिको बंद किये बैठे हैं—ऐसा, मानो किसी औरकी नजर न लग जाय; हमारी परम निधिपर कोई छापा न मारे। भीतरकी लीला कोई कैसे कहे? कृपणके समान उसे जुगा रखना और अपने ही आप उसमें छके रहना, उसके रसमें डूबे रहना, वाणीको भीतर ले जाकर उसी रसमें डुबो देना, आँखोंको भीतर ले जाकर उसी अपरूप रूपको एकटक निरखते रहना, कानोंको भीतर ले जाकर उसकी नूपुर और मुरलीके रवपर लुभाये रहना····अवकाश ही कहाँ है कि बाहर आकर कुछ कहने-सुननेकी लालसा जगे? वहाँ तो जो पलकें गिर जाती हैं—वह एक क्षण ही असह्य हो उठता है!

> कहा करों सुन्दर मूरत इन नैनन माँझ समानी।
> निकसत नाहिं बहुत पचिहारी रोम-रोम उरझानी॥
> अब कैसे निर्वार जात है, मिले दूध ज्यों पानी।
> सूरदास प्रभु अन्तर्यामी ग्वालिन मनकी जानी॥

यही एकान्त आनन्द है, यही एकान्त मिलन है, यही हमारा हरिके साथ अपना अनोखा रास है। अपने भीतर समाकर,

उस छविको निरखते हुए, प्रभुके पदसञ्चारणकी मधुर प्रक्रियाके अनुसार ही, उसकी प्रतिध्वनिके रूपमें, जब हमारे प्राण-प्राण रुमझुन-रुमझुनकी झंकारमें अपनी गतिको मिलाकर, उसके आलिङ्गनमें बँधकर, नृत्य-सम्मोहनमें तल्लीन हो जाते हैं, उस समय जब हरि-की पैंजनी और हमारे प्राणकी झंकार एक—'एक' सर्वथा एक होकर हृदयके वृन्दावनमें गूँज उठती है और उस रसधारामें संयोगकी जो अमृत-अनुभूति होती है वह........!! जन्म-जन्मान्तरों-से, कोटि-कोटि जन्मोंसे भीतरका रास एक क्षणके लिये भी न रुका; मेरी आत्मा, मेरे प्राण, मेरे रोम-रोम इस निरन्तर रास-लीलाके आनन्दमें उद्बुद हैं! यह रस सदासे पीता आया हूँ—प्रतिक्षण पीता रहता हूँ, सदा पीता रहूँगा। यही तो हमारा सत्य स्वरूप है, यही तो हमारे अनावृत प्राणोंकी अनवरत क्रीड़ा है, यही तो हमारा अपने 'जनम जनमके साथी' के साथ मधुर मङ्गल मिलन है! यही सहज जीवनका अनाच्छादित रूप है। यही वास्तविक योगधारणा है। मिलनकी यह अतृप्त वासना—सदा 'उस'के आलिङ्गनपाशमें बँधे होनेपर भी बार-बार उसे देखते रहनेका लोभ कितना सम्मोहक है!

जनम अवधि हम रूप निहारनु
नयन ना तिरपित भेल।
लाख लाख युग हियाय राखनु
तबू हिया जुड़ ना गेल।
वचन-अमिय अनुक्षण सुनलु
श्रुतिपथ परश न भेल॥

जन्म-जन्मसे हम उस रूपको देखते आये हैं पर आँखें तृप्त न हुईं। लाख-लाख युगोंसे उसे हृदयमें छिपा रखा फिर भी हृदय जुड़ाया नहीं। प्रतिक्षण उसकी बातें सुनता हूँ फिर भी मानो उसकी वाणीने कभी मेरे कानोंका स्पर्श भी नहीं किया!

आश्चर्य, महान् आश्चर्य तो इसमें है कि हममेंसे प्रत्येक यही अनुभव करते हैं कि हमने ही, केवल हमने ही हरिको अपने प्राणोंमें छिपा रखा है, हम ही इस अमृत-आनन्दका रस पीते हैं, केवल हमें ही रासका संयोग हमारे प्राणाधारने दिया है! हम यही समझे बैठे हैं कि हरिका मुख मेरी ही तरफ केवल मेरी ही तरफ है, उनकी अलकावलिमें जो लहरें हैं, उनकी भ्रूमें जो भङ्गिमा है, गलेमें जो नीचेतक लटकती हुई दिव्य मनोहर वन-पुष्पोंकी माला है यह केवल हमें ही देखनेको मिल रही है। हम उस दिव्य झाँकीमें अपने आपको भूलकर अपनेको खो बैठते हैं और स्पष्ट यह दीखने लगता है कि आगे हरि, पीछे हरि, दाहिने हरि, बायें हरि, ऊपर हरि, नीचे हरि, भीतर हरि, बाहर हरि, केवल हरि ही हरि, हरिके सिवा कुछ है ही नहीं—उस अपार आनन्दमें अलमस्त होकर भीतर ही भीतर यह अनुभव करने लगते हैं—

तुमि बंधु तुमि नाथ, निशदिन तुमि आमार।
तुमि सुख तुमि शान्ति तुमि हे अमृत पाथार॥
तुमि तो आनन्दलोक जुडावो प्राण नाशो शोक।
तापहरन तोमार चरन असीम शरन दीन जनार॥

तब ऐसा मालूम होता है कि इस आनन्दका औरोंको क्या पता ? औरोंको हरिके इस रास-रसका क्या अनुभव ? यह तो बस हमारा ऐकान्तिक आनन्द है। यह है भी वास्तवमें स्वाभाविक ही। रासमें प्रत्येक गोपी यही जानती थी कि कृष्ण केवल हमारे ही साथ हैं। उन्हें यह पता नहीं था कि उनका दाहिना हाथ भी कृष्णके हाथमें और बायाँ हाथ भी कृष्णके हाथमें था। उन्हें यह भी देखनेका अवसर नहीं था कि सामने बीचमें, समस्त विस्तारके केन्द्रमें जो कृष्ण खड़ा है उसके साथ भी एक 'और' है। उस 'और' की ओर देखने-दिखानेका उन्हें अवकाश ही कहाँ था ? मिलनके पूर्व राधाका श्रृङ्गार जो वे अपने हाथों करती थीं उसमें उनका अपना ही स्वार्थ था—उनके प्राणाराम हरिको प्रगाढ़ आनन्द मिले, उनके प्रियतम परम सुखी हों—एकमात्र यही उनका अभिप्राय था। राधाके मिस कृष्णका आनन्द बढ़े इससे बढ़कर उनके सुखका कारण क्या हो सकता था ? यह सब होते हुए भी गोपियोंका हरिसे मिलना राधाको मध्यस्थ बनाकर नहीं था—'मध्यस्थ' की गुंजाइश ही कहाँ ? वहाँ तो बीचका एक हार ही खल रहा था। हरिके स्पर्शमें उनके प्राण बेसुध थे, डूबे हुए थे। सखीके प्राणोंमें भी हरिकी वही लीला हो रही है जो उनके भीतर—यह समझनेकी सुध ही उन्हें कहाँ थी ? अरे ! उन्हें तो अपने शरीरका भी भान नहीं था। रासके पूर्व ही, ज्योत्स्ना-प्लावित यमुनातटपर कुञ्जोंके भीतरसे माधवने जब मुरली छेड़ी—बस उस टेरपर ही तो वे प्राणोंको बेच चुकी थीं। इस आवाहन,

इस आमन्त्रणने उनके हृदयको, समग्र चेतनाको अभिभूत कर लिया, वशीभूत कर लिया । कानकी बाली हाथके कङ्कणमें, गलेका चन्द्रहार कटिकी करधनीमें परिवर्त्तित हो गयी तो क्या ? वे अपने प्राणप्यारे बच्चोंको दूध पिला रही थीं, बीचमें ही बच्चेको छोड़कर चल दीं । उस आमन्त्रणका सम्मोहन ही ऐसा प्रगाढ़ था । अपनेको सँभाल सकें—यह कैसे होता ? जिस प्रकार नदी समुद्रके पास आ जानेपर शत-शत धाराओंमें विकल होकर, पागल होकर मिलनेके लिये दौड़ती है यही दशा उन गोपियोंकी भी थी । कई जन्मोंसे वे हरिको प्राणवल्लभके रूपमें पानेके लिये जप-तप करती आयी थीं । आज जब उनका चिरवाञ्छित प्रणय परिणय-दशाको—वह भी स्वयं प्राणाधारकी अनन्य अनुकम्पासे प्राप्त हो रहा है—'वह' स्वयं उन्हें बुला रहा है कि आओ अपनी जन्म-जन्मकी साध पूरी करो, अपने भूखे-प्यासे प्राणोंको जुड़ाओ—तो वे कैसे अपनेको सँभाल सकतीं ? यही तो उनकी एकमात्र साध थी, एकमात्र आकांक्षा थी । हरिने स्वयं अपार-अहैतुकी दया करके उन्हें अपनाया, अपने रासके रसमें सराबोरकर उन्हें सदाके लिये निहाल कर दिया ।

श्यामने मुरली मधुर बजाई ।
सुनत टेर तनु सुधि बिसारि सब गोपबालिका धाईं ॥
लहँगा ओढ़ि, ओढ़ना पहिरे कंचुकि भूलि पराई ।
नकवेसर डारे स्रवनन महँ, अद्भुत साज सजाई ॥
धेनु सकल तृन चरन बिसारयो ठाढ़ी स्रवन लगाई ।
बछुरनके थन रहे मुखन महँ, सो पयपान भुलाई ॥

पसु-पंछी जहँ तहँ रहे ठाढ़े मानो चित्र लिखाई।
पेड़ -पहाड़ प्रेमबस डोले, जड़ चेतनता आई॥
कालिन्दी प्रवाह नहिं चाल्यो, जलचर सुधि बिसराई।
ससिकी गति अवरुद्ध, रहे नभ देव विमानन छाई॥
धन्य बाँसकी बनी मुरलिया बड़ो पुन्य करि आई।
सुर मुनि दुर्लभ रुचिर बदन नित, राखत स्याम लगाई॥

उसी 'मधु'का गीत उपनिषद् गाते हैं, गाते-गाते अघाते नहीं—

मधु वाता ऋतायते। मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषसः। मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिः। मधुमानस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।

उसी मूल मिलन-मधुका अमृत पवनमें है, नदियोंमें है, वनस्पतियोंमें है, रात्रिमें है, प्रभातमें है, सन्ध्यामें है। आकाशमें है, ओषधियोंमें है, सूर्यमें है। वही माधुर्य हमारी वाणीमें हो।

आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व वृन्दावनमें जो रास हुआ वह उसी नित्य-निरन्तर होनेवाले रासका प्राकट्यमात्र था जो समय पाकर अन्तर्हित हो गया। हमारी स्थूल आँखोंसे वह भले ही ओझल हो गया परन्तु वह तो सृष्टिके आदिसे होता आ रहा है—सदैव होता चलेगा। सृष्टिके प्राणोंमें जो मूलस्पन्दन है वह उस रासके कारण ही। रास एक क्षणके लिये भी रुका कि सृष्टिका प्रवाह रुका। दुनिया उसीपर तो जी रही है, उसीपर चल रही है। हम इसी आशामें तो जी रहे हैं कि एक दिन आयेगा

जब पुनः हमारी स्थूल आँखोंके सामने वृन्दावनका वही रास पुनः छिड़ेगा । समस्त संसार इसी विश्वासमें चल रहा है नहीं तो कभी न इसकी 'इति' हो गयी होती !

'सूत्रे मणिगणा इव' हम सभी उस परम दिव्य रासमें गुँथे हुए हैं । हमारी आत्मामें जो रति-आनन्द है, स्पर्श-सुख है, वह उसी मूल रासकी लहर है । सभी आत्माओंमें बस वही 'एक' चराचरका पति रमण कर रहा है । वही हमारा एकमात्र गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् है । 'पुरुष' तो केवल वही एक है, शेष सब कुछ उसकी भोग्या है । मीराने वृन्दावनमें जीव गोसाईंसे जो कुछ कहा था उसका अनुभव प्रायः प्रत्येक प्राणी करता है पर कहनेका साहस नहीं करता; उसे अपना सत्य रूप प्रकट करनेमें लज्जा आती है, संकोच होता है । मीराके लिये ही क्यों, समस्त प्राणियोंके लिये ही यह सिद्ध है कि कृष्णके सिवा कोई पुरुष है ही नहीं, केवलमात्र श्रीकृष्ण पुरुष हैं हम सभी उसी एककी 'प्रकृति' हैं । जिस क्षण हमारा यह अनुभव तीव्र और व्यापक हो जाता है, जब हम अपनी आत्माके सत्य स्वरूपमें पहुँचते हैं और वहाँ स्थित होकर सृष्टिपर दृष्टि डालते हैं तो सनातन रासधाराकी कुछ झलक मिलती है । इसे ही आत्मरमण अथवा आत्मरति कहते हैं । आत्माका आत्मामें रमण—प्राणेश्वर कृष्णका राधारूपिणी आत्मामें रमण यही है । यही भूमाका आनन्द है, यही 'रसो वै सः' है । यही एकमात्र रस है । यही चन्दन और पानीका संयोग है—जिसकी

सुगन्धि, जिसकी बास अंग-अंगमें, विश्वके कण-कणमें समायी हुई है। यही दीपक और बातीका संयोग है जिसका तेज, जिसका प्रकाश, जिसकी 'जोत' चराचरको दिन-रात जगमग किये हुए है।

यह आनन्द, यह सुगन्धि, यह ज्योति हम सभीके हृदयमें छिपी हुई है। मिलन तो सर्वत्र हो रहा है—'सब घट हौं विहरौं।' 'सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।' आत्माकी कोई भी सेज सूनी नहीं है। 'वह' सबमें विहर रहा है, रमण कर रहा है। सर्वत्र रास छिड़ा हुआ है।

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो, री सखी! मिलि राखिये, नैनन रस पीजै हो।
स्याम सलोनो साँवरो मुख देखत जीजै हो॥
जोइ जोइ भेप सों हरि मिलैं, सोइ सोइ कीजै हो।
मीराके प्रभु गिरधर नागर वड़भागन रीजै हो॥

जहाँ दृष्टि भीतर फिरी कि भीतरके रूपपर वह निछावर हो जाती है। वहाँका आनन्द, वहाँकी शोभा चुपके-चुपके पीते रहनेकी ही है। ऐसे 'पिय' को पाकर भला कोई क्यों छोड़े? छोड़कर जी ही कैसे सकेगा? वह तो प्राणोंका प्राण, जीवनका आधार है, हृदयका वल्लभ है, प्राणाराम, प्राणवल्लभ है। उसीकी प्राप्तिके लिये तो सारी विकलता, सारा उद्वेग है। प्रभुकी अतल शीतल अमृत छायामें जाकर फिर संसारके पाप-तापमें जलनेके लिये कोई क्यों आवे। वहाँ तो बस गुप-चुप रस पीते रहना है, संसारकी ओरसे आँखें मूँदकर। उसीको पानेके लिये, उसीमें

मिलनेके लिये तो संसारमें अनेक नाते जोड़ रखे थे—पर सभी नाते जहाँ एक साथ और दिव्य भावमें पूर्ण हो रहे हों उसे क्यों छोड़ा जाय, कैसे छोड़ा जाय, छोड़ते बनेगा ही क्यों ? वही हमारा एकमात्र सच्चा 'अपना' है, किसी भी वस्तुसे प्रिय है। वह तो स्वयं मेरी आत्माका आत्मा है, मेरा 'मैं' है अतएव वह प्रियसे प्रिय वस्तुसे भी अधिक प्रिय और सन्निकट है। 'उस' प्रियतमसे बढ़कर है ही कौन ? बस 'जोइ जोइ भेष सों हरि मिलै सोइ सोइ कीजै हो !' जिस किसी प्रकार हरिसे मिलन हो वही करना चाहिये।

मैत्रेयीको समझाते हुए याज्ञवल्क्यने भी तो यही कहा था 'अरी मैत्रेयी ! सबके लिये सब प्यारे नहीं होते, आत्माके लिये ही सब प्यारे होते हैं।' उस परम सम्बन्धकी मधुरताका आभास ही इन सांसारिक सम्बन्धोंमें है और इसीलिये ये प्रिय लगते हैं—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।

उस परमानन्दकी प्यास नचिकेताके हृदयमें जग चुकी थी, इसीलिये न यमके सारे प्रलोभनोंकी ओर उसने आँखतक न फेरी। अल्पका सुख उसे आकृष्ट न कर सका। वह तो अक्षय आनन्दकी खोजमें था। संसारकी कोई भी वस्तु, कोई भी वैभव उसे मुग्ध कैसे कर सकता ? हम तो परमानन्दसे उपजे हैं, आनन्दसे ही जी रहे हैं और प्रतिक्षण उस दिव्य आनन्दमें ही प्रवेश कर रहे हैं। आनन्दके इस परम पारावारमें हम उभचुभ हो रहे हैं, चारों ओरसे

उसीके द्वारा आवेष्टित हैं। उसीमें हम तैर रहे हैं, केलि कर रहे हैं, स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं—ठीक जैसे मछली जलमें।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
(तैत्ति० ३। ६)

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दो० ७। २३। १)

रसो वै सः। रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति। (तैत्ति० २। ७)

आनन्दसे ही निश्चय ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। आनन्दसे ही उत्पन्न हुए जीते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही प्रवेश कर जाते हैं।

जो भूमा यानी महान् निरतिशय है, वह सुख है। अल्पमें सुख नहीं है, भूमा ही सुखरूप है। भूमा ही तुझको जानना चाहिये।

वह निश्चय रस है, इस रसको पाकर ही आनन्दवाला होता है, जो हृदयाकाशमें यह आनन्द न हो तो कौन श्वास ले, कौन प्रश्वास ले ? यही आनन्द देता है। इस आनन्दकी मात्रासे ही अन्य प्राणी जीते हैं।

उस मूल आनन्दके कारण ही समस्त प्राणी श्वास-प्रश्वास ले रहे हैं। वह आनन्द सर्वत्र छाया हुआ है। वही वह केवल है—जैसे और कुछ हो ही नहीं। कण-कण उस आनन्दमें भिना हुआ है। सर्वलोकमहेश्वर जलमें रस बनकर, सूर्य-चन्द्रमें प्रकाश बनकर,

पृथ्वीमें गन्ध बनकर, आकाशमें शब्द बनकर, वायुमें वेग बनकर—और तो और 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' जीवनमें मृत्यु बनकर हमारे भीतर-बाहर मँडरा रहा है। उसके अंग तो सदा अनावृत हैं, वह तो सदा-सदैव मिलनेके लिये बाँहें फैलाये खड़ा है। आवरण तो हमने स्वयं अपने ऊपर डाल रक्खा है। हम स्वयं उसकी आँखोंसे बचकर रहना चाहते हैं। हम स्वयं सोचते हैं कि इस मलिन वेशको लेकर उसके पास क्या जायँ? परन्तु हमारा उदार हरि तो हमें हर रूपमें अङ्गीकार करनेके लिये व्याकुल है। वह कहता है—अरे, ये श्रृङ्गार किसलिये? आओ जैसे भी हो; आओ—तुममें अपना आनन्द ढालूँ, तुम्हें अपना प्रेम पिलाऊँ, तुम्हें अपने आलिङ्गनके मधुसे नहला दूँ—

Come as you are; do not loiter over the toilet. If your braided hair has loosened, if the parting of your hair be not straight, if the ribbon of your bodice be not fastened, do not mind. Come as you are do not loiter over the toilet.

Come with quick steps over the grass. In vain you light the toilet lamp, it flickers and goes out in the wind. Who can know that your eyes have not been touched with lamp-black. If the wreath be not woven who cares? The sky is overcast with clouds it is late; come as you are do not loiter over the toilet.

—*Tagore*

'आमन्त्रण' के इन प्यारभरे आकुल शब्दोंको सुनकर हृदयका रेशा-रेशा प्रेममें भींग जाता है, प्राणोंकी कली खिल उठती है और

उसकी एक-एक पँखुड़ीपर प्रभुकी साँवरी मूर्त्तिकी आभा पड़ने लगती है। लज्जा छोड़कर, आवरण हटाकर हाहाकारके साथ प्राण उसके चरणोंमें दौड़ते हैं। जो अपना सबसे प्रिय है उससे अबतक इतना दुराव, इतनी बेरुखी ! हृदयका नग्न रूप, हमारे जीवनके प्रत्येक पहलूका नग्न रूप उसके सामने आता है और वह प्रेमभरी दृष्टिसे मुसकराकर इसकी ओर निहारता है। आत्माका यही अभिसार है, यही हरिचरणानुसरण है, यही साजनके घर जाना है।

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ ? ओही देखउँ ठाँवहिं ठाऊँ ॥

प्रभुके साथ हमारे परिणयकी यही मङ्गल-वेला है। इसी पावन मुहूर्त्तमें हरि हमारा पाणि-ग्रहण करते हैं। इसी शुभ घड़ीमें उनका हमारे साथ ग्रन्थिबन्धन होता है। हम उनके रंगमें रँगकर, सर्वथा उनका ही होकर गा उठते हैं—

मैं अपने सैयाँ सँग साँची।
अबकाहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाची ॥

भक्तोंके चरित्र

भागवतरत्न प्रह्लाद–८ चित्र, मू० १) सजिल्द १।)
देवर्षि नारद–५ चित्र, मूल्य ।।।) सजिल्द १)
श्रीतुकाराम-चरित्र–मूल्य १≋) सजिल्द ... १।।)
श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र–१ चित्र, मूल्य ... ।।।–)
श्रीएकनाथ-चरित्र, मू० ।।)
श्रीरामकृष्ण परमहंस–३ चित्र, मूल्य ... ।≋)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड १–६ चित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।।=) सजिल्द १=)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड २–९ चित्र, पृष्ठ ४५०, मूल्य १=), सजिल्द १।=)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड ३–पृष्ठ ३८४, चित्र ११, मूल्य १) सजिल्द १।)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड ४ पृष्ठ २२४, चित्र १४, मू० ।।=) सजिल्द ... ।।।=)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड ५ पृष्ठ २८०, चित्र १०, मूल्य ।।।) सजिल्द ... १)
भक्त बालक–५ चित्र, मू० ।–)
भक्त नारी–६ चित्र, मू० ।–)
भक्त पञ्चरत्न–५ चित्र, मू० ।–)
आदर्श भक्त–७ चित्र, मू० ।–)
भक्त-चन्द्रिका–७ चित्र, मू० ।–)
भक्त-सप्तरत्न–७ चित्र, मू० ।–)
भक्त-कुसुम–६ चित्र, मू० ।–)
प्रेमी भक्त–६ चित्र, मू० ।–)
यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ–३ चित्र, मूल्य ... ।)
एक संतका अनुभव—मू० –)

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर